भारतीय संविधान में धर्म की भूमिका

(धर्मनिरपेक्षता के विशेष सन्दर्भ में)

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी

की

राजनीति विज्ञान विषय

में

डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी

की

उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

1997

साधना राय

निर्देशक
डॉ. पी. एन. दीक्षित
विभागाध्यक्ष
राजनीति विज्ञान
पं. जे. एन. कॉलेज, बाँदा

शोधार्थिनी
श्रीमती साधना राय
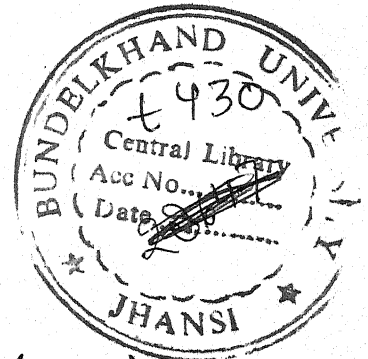
शोध केन्द्र
पं. जवाहरलाल नेहरू महाविद्यालय, बाँदा (उ. प्र.)

Dr. P.N. Dixit
Reader & Head
Department of Political Science
Pt. Jawaharlal Nehru College
BANDA (U.P.)

Civil Lines
Banda
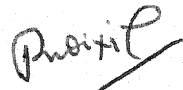
CERTIFICATE

This is to certify that Smt. Sadhana Rai who has been working on the subject, " भारतीय संविधान में धर्म की भूमिका " (धर्म निरपेक्षता के सन्दर्भ में) for her Ph.D. degree in Political Science of Bundelkhand University under my guidance and supervision, has now completed her work.

This is to certify further :-

1. that the thesis is original and embodies her own work and that
2. she has worked under my supervision for the period required under the ordinance.

Date : 4/2/97

(DR. P.N. DIXIT)
Supervisor

:: शोध प्रबन्ध का प्रारूप ::

भारतीय संविधान में धर्म की भूमिका
धर्म निरपेक्षता के सन्दर्भ में

प्रस्तुत शोध प्रचन्ध लिखने के पीछे सबसे तात्कालिक एवं सशक्त प्रेरणा तो आज अपने देश में व्याप्त स्थितियों और उनके घनीभूत अन्तर्द्वन्द्वों से ही प्राप्त होती है । आज सम्पूर्ण देश में नाना प्रकार के साम्प्रदायिक, धार्मिक एवं उग्रवादी उभार अपनी तमाम विकृतियों के साथ सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन को एक अजीबोगरीब संकट में डाले हुये है । इसी के साथ ही साथ अनेक प्रकार की पृथकतावादी प्रवृत्तियाँ भी देश की आन्तरिक एकता व शक्ति के लिये चुनौती बनी हुयी है । ऐसी संकटपूर्ण स्थितियों में मुझे ऐसा लगा कि मैं पूरी गम्भीरता व ईमानदारी के साथ भारतीय संविधान एवं व्यवहारिक राजनीति में धर्म की भूमिका का अध्ययन एवं मूल्यांकन करूँ । इस प्रयास में इस बुनियादी सत्य की तरफ संकेत कर देना आवश्यक है कि भारत वर्ष के सामाजिक जीवन में युगों-युगों से किसी न किसी रूप में धर्म एक प्रभावी कारक रहा है । आजादी के पूर्व राष्ट्रीय स्वाधीनता के संघर्ष के लम्बे काल में भी भारतीय राष्ट्रवाद को धर्म से प्रेरणा व ऊर्जा प्राप्त होती रही है । राजा राममोहन राय, अरविन्द घोष, दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, विपिन चन्द्र पाल, बाल गंगाधर तिलक और महात्मा गांधी जैसे व्यक्तियों ने भारतीय राष्ट्रवाद को नैतिक व आध्यात्मिक मूल्यों से प्रेरित व पोषित किया ।

स्वतंत्रता प्राप्त होने के पश्चात धर्म और राजनीति के स्वस्थ समीकरण के रूप में हमने अपने संविधान में धर्म निरपेक्षता को एक आदर्श और मूल्य के रूप में स्वीकार किया । यहाँ इस तथ्य की तरफ संकेत कर देना आवश्यक है कि संविधान में

करते हैं, सामाजिक और राजनीतिक जीवन में धर्म की भूमिका को निर्धारित करते समय अत्यन्त ईमानदारी और गम्भीरता की आवश्यकता थी और है ।

वस्तुतः भारतीय संविधान के निर्माण के समय धर्म निरपेक्षता की जो अवधारणा इस देश के संदर्भ में प्रस्तुत की गयी थी वह अपने आप में स्वस्थ, संगत, आधुनिक और धनात्मक धारणा है । किन्तु धर्म निरपेक्षता को उसके समस्त स्वस्थ आयामों के साथ व्यवहार में चरितार्थ करने में अनेक त्रुटियां हुई है । उन कमियों ने ही राजनीति तथा धर्म (राज्य और धर्म) के सम्बन्धों के समीकरण को विकृत भी किया । अभिप्राय यह है कि भारतीय राजनीतिक प्रक्रिया में धर्म की भूमिका को सही रूप में रेखांकितकरने के लिए हमें धर्म निरपेक्षता के आदर्श को लागू करने के लिए पूर्ण निष्ठा व ईमानदारी के साथ प्रयास करना पड़ेगा । इस देश के राजनैतिक दलों को भी धर्म निरपेक्षता के आदर्श को स्पष्ट रूप से समझते हुए उसके प्रति ईमानदारी से प्रतिबद्ध होना पड़ेगा और तभी हम देश की एकता व अखण्डता की रक्षा भी कर सकेंगे। मैं तो यह मानती हूँ कि इस देश के सामने राजनीतिक प्रक्रिया को एक स्वस्थ स्वरूप प्रदान करने के लिए धर्म निरपेक्षता के अतिरिक्त कोई दूसरा वैकल्पिक आदर्श है ही नहीं । धर्म निरपेक्षता के आदर्श को मात्र संविधान की कुछ धाराओं में स्थान दे देने भर से अथवा उसका प्रयोग राजनैतिक दलों द्वारा मात्र नारे के रूप में करने से भी लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकेगी । सैद्धांतिक आदर्श के रूप में प्रस्तुत कर देने मात्र से ही इतने विशाल देश में उभरने वाले, धार्मिक सामाजिक, आर्थिक प्रश्नों और समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता । अगर हम राष्ट्रीय जीवन को एक स्वस्थ और धनात्मक दिशा एवं लक्ष्य की तरफ ले जाना चाहते हैं तो हमें पूर्ण ईमानदारी के साथ यह स्वीकार करना पड़ेगा कि भारतीय राजनीति को धर्म निरपेक्षता के आदर्श को केन्द्र में रखकर ही

अपने आपको निर्मित व विकसित करना पड़ेगा ।

इस शोध प्रबन्ध में धर्म और राजनीति तथा धर्म एवं राज्य के सम्बन्धों का अध्ययन एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और परिप्रेक्ष्य में किया जायेगा । इस शोध प्रबन्ध के अंतिम भाग में कुछ उन निष्कर्षों की तरफ भी संकेत किया गया है जो राष्ट्रीय जीवन में धर्म और राज्य के सम्बन्धों को एक स्वस्थ व धनात्मक स्वरूप प्रदान कर सकते हैं । वास्तव में धर्म निरपेक्षता का आदर्श न केवल दृष्टिकोण की उदारता, व्यापकता और सहिष्णुता ही प्रदान करेगा बल्कि सम्पूर्ण राज्य के सामाजिक व राजनीतिक जीवन का स्वस्थ ताना-बाना भी इसी आदर्श के द्वारा बुना जा सकता है । आज अगर स्थितियाँ अत्यन्त असंतोषजनक और विस्फोटक हैं तो उसका कारण धर्म निरपेक्षता के आदर्श में कहीं कोई खोट या कमी नहीं है बल्कि हमने इस आदर्श को पूरी निष्ठा और ईमानदारी के साथ कभी राष्ट्रीय जीवन में लागू नहीं किया है ।

विषय को एक उचित एवं यथासम्भव सुगठित स्वरूप प्रदान करने के लिये मैंने उसका अध्ययन निम्नलिखित सात अध्यायों के अन्तर्गत किया है -

1. प्रतिपाद्य विषय की सामान्य रूपरेखा ।
2. धर्म और राज्य के सम्बन्ध का ऐतिहासिक विश्लेषण ।
3. धर्म और राज्य का पारस्परिक सम्बन्ध तथा इस सम्बन्ध में धर्म निरपेक्ष राज्य की अवधारणा एवं विशेषताएं ।
4. भारतीय संविधान में धर्म और राज्य के सम्बन्धों का स्वरूप ।
5. भारतीय राजनीतिक प्रक्रिया और धर्म ।
6. भारतीय राजनीति में धर्म का वास्तविक क्रियात्मक रूप ।
7. निष्कर्ष ।

इस शोध प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में विषय की सामान्य रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है ।

दूसरे अध्याय में धर्म एवं राज्य के सम्बन्ध का ऐतिहासिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है ।

(1) इतिहास के प्रारम्भिक काल में राजपद की दैवी अवधारणा तथा सम्राट की राजकीय प्रमुख के साथ ही साथ धार्मिक प्रमुख की स्थिति का विश्लेषण । इसी सन्दर्भ में रोम, ग्रीक की राजनीतिक व्यवस्थाओं का संक्षेप में अध्ययन ।

(2) मध्य युग में धर्म एवं राज्य सत्ता के मध्य चलने वाला संघर्ष -

इस संघर्ष के पश्चात् परिवर्तित परिस्थितियों में लोगों के दृष्टिकोण में आया हुआ परिवर्तन । लोग धार्मिक अन्ध विश्वासों से ऊपर उठकर बुद्धि के आधार पर सोचने विचारने लगे और अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि धर्म व्यक्ति का व्यक्तिगत मामला है और राज्य को उसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये । उन्नीसवीं सदी में यूरोप के अनेक राज्यों ने अपने को धर्म से पृथक किया किन्तु कुछ देशों में राज्य तथा धर्म का सम्बन्ध बीसवीं शताब्दी तक कायम रहा । रूस में सन् 1917 की क्रांति ने राज्य एवं धर्म को पृथक किया ।

(3) प्राचीन समय में इस्लामी देशों में राज्य एवं धर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध और वर्तमान समय में स्थिति का अध्ययन ।

वर्तमान स्थिति- मजहब की पकड़ मुसलमान राज्यों में अब भी बहुत गहरी है और साधारणता आज के वैज्ञानिक युग की उपलब्धियों ने इन देशों के लोगों के दृष्टिकोण को उतना अधिक तर्कसंगत और आधुनिक नहीं बनाया ।

अपवादों की तरफ भी संकेत

कमाल पाशा - जिन्होंने टर्की को आधुनिक राष्ट्र बनाने के लिए क्या-क्या नहीं किया ।

संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि मजहब की पकड़ मुसलमानों में सामान्यतया जकड़न ही हद तक थी ।

(4) प्राचीन भारत में धर्म एवं राज्य की स्थिति का विश्लेषण ।

यद्यपि प्राचीन भारत के राज्य धर्म निरपेक्ष राज्य नहीं थे फिर भी धार्मिक सहिष्णुता भारतीय जीवन की एक विशेषता रही है।

(5) राष्ट्रीय आन्दोलन के काल में धर्म की स्थिति -

अंग्रेजों द्वारा भारत के राष्ट्रीय जीवन के प्रमुख धारा में धार्मिक विद्वेष घोलने की चेष्टा और अन्ततः उसकी परिणति भारत विभाजन ।

(6) राष्ट्रीयता की भावना, शिक्षा के विकास, आध्यात्मिक चेतना की जागृति तथा गाँधी एवं नेहरू के प्रयत्नों से धर्म निरपेक्ष दृष्टिकोण को बल मिला ।

इस संदर्भ में गाँधी एवे नेहरू के योगदान का संक्षिप्त उल्लेख ।

तीसरे अध्याय में धर्म एवं राज्य का पारस्परिक सम्बन्ध तथा धर्म निरपेक्ष राज्य की अवधारणा एवं विशेषताओं का अध्ययन एवं मूल्यांकन किया गया ।

1. धर्म एवं राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों के निर्धारण की प्रक्रिया में धर्म निरपेक्षता के सिद्धान्त का उदय - यह सिद्धान्त न केवल लोकप्रिय बल्कि युगीन आवश्यकता ।

2. धर्म निरपेक्षता क्या है ?

इस संदर्भ में पश्चिमी, भारतीय एवं साम्यवादी दृष्टिकोण की चर्चा । साम्यवादी दृष्टिकोण - धर्म के प्रति उपेक्षा का ही नहीं बल्कि विद्रोही दृष्टिकोण । मार्क्स द्वारा अपनी साम्यवादी व्यवस्था में एक वर्गविहीन, राज्यविहीन एवं धर्मविहीन समाज बनाने का संकल्प ।

भारत में धर्म एवं राज्य के मध्य कभी उग्र संघर्ष की स्थिति उत्पन्न नहीं हुई बल्कि प्रायः तो वे एक-दूसरे के पूरक ही रहे ।

यद्यपि प्राचीनकाल में धर्म एवं राज्य में कोई कटुतापूर्ण सम्बन्ध नहीं थे । किन्तु 1947 के बाद भारत में राजनीतिक विकास की प्रक्रिया के ऊपर गम्भीरता

से विचार करें तो व्यवहार में धर्म एवं राज्य का सम्बन्ध काफी सीमा तक असंतोषजनक एवं विकृत दिखायी पड़ता है ।

जब भारतवर्ष ने धर्म निरपेक्षता के सिद्धांत को स्वीकार किया तो यह उसका एक निर्णायक और सुचिन्तित निर्णय था जो इतिहास और स्वतंत्रता आन्दोलन के आदर्शों के गर्भ से उत्पन्न हुआ था । यहां इस तथ्य को भी रेखांकित करना होगा कि धर्म निरपेक्षता हमारे लिये एक आदर्श या बौद्धिक विलास नहीं है बल्कि यह तो हमारे अस्तित्व एवं विकास के लिए पूर्णरूपेण आवश्यक है ।

(4) धर्म निरपेक्षता की विभिन्न विचारकों द्वारा की गयी परिभाषाऐं और उसके पश्चात् एक सामान्य निष्कर्ष कि धर्म निरपेक्षता की संकल्पना में राज्य, धर्म एवं व्यक्ति के तीन भिन्न किन्तु एक दूसरे से संबंधित समीकरण बनते हैं -

अ- धर्म एवं व्यक्ति (धार्मिक स्वतंत्रता)
ब- राज्य एवं व्यक्ति (नागरिक्ता)
स- राज्य एवं धर्म (धर्म एवं राज्य का पृथकत्व)

(5) धर्म निरपेक्ष राज्य की विभिन्न विशेषताओं का विश्लेषण

धर्म व राज्य का सम्बन्ध तथा इस संदर्भ में धर्म निरपेक्षता की अवधारणा परिभाषा एवं उसकी विशेषताओं का मूल्यांकन करने के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पँहुचाते हैं कि धर्म का हमारे राष्ट्रीय जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि यह मनुष्य को गहराई में सशक्त रूप से उद्वेलित करता है । सभी धर्मों में पाये जाने वाले नैतिक मूल्यों और आदर्शों में एक समानता स्पष्ट दिखाई देती है । यह भी पूर्णतया सत्य

से विचार करें तो व्यवहार में धर्म एवं राज्य का सम्बन्ध काफी सीमा तक असंतोषजनक एवं विकृत दिखायी पड़ता है ।

जब भारतवर्ष ने धर्म निरपेक्षता के सिद्धांत को स्वीकार किया तो यह उसका एक निर्णायक और सुचिन्तित निर्णय था जो इतिहास और स्वतंत्रता आन्दोलन के आदर्शों के गर्भ से उत्पन्न हुआ था । यहां इस तथ्य को भी रेखांकित करना होगा कि धर्म निरपेक्षता हमारे लिये एक आदर्श या बौद्धिक विलास नहीं है बल्कि यह तो हमारे अस्तित्व एवं विकास के लिए पूर्णरूपेण आवश्यक है ।

(4) धर्म निरपेक्षता की विभिन्न विचारकों द्वारा की गयी परिभाषाऐं और उसके पश्चात् एक सामान्य निष्कर्ष कि धर्म निरपेक्षता की संकल्पना में राज्य, धर्म एवं व्यक्ति के तीन भिन्न किन्तु एक दूसरे से संबंधित समीकरण बनते हैं -

अ- धर्म एवं व्यक्ति (धार्मिक स्वतंत्रता)
ब- राज्य एवं व्यक्ति (नागरिक्ता)
स- राज्य एवं धर्म (धर्म एवं राज्य का पृथकत्व)

(5) धर्म निरपेक्ष राज्य की विभिन्न विशेषताओं का विश्लेषण

धर्म व राज्य का सम्बन्ध तथा इस संदर्भ में धर्म निरपेक्षता की अवधारणा परिभाषा एवं उसकी विशेषताओं का मूल्यांकन करने के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पँहुचाते हैं कि धर्म का हमारे राष्ट्रीय जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि यह मनुष्य को गहराई में सशक्त रूप से उद्वेलित करता है । सभी धर्मों में पाये जाने वाले नैतिक मूल्यों और आदर्शों में एक समानता स्पष्ट दिखाई देती है । यह भी पूर्णतया सत्य

है कि सम्प्रदायवाद जो किसी भी रूप में धर्म नहीं है केवल धर्म का विशुद्ध दोहन है और जो राष्ट्रीय एकता और अखण्डता के लिए गम्भीर संकट है, उसको पूरी शक्ति से रोकना चाहिये ।

चौथे अध्याय में भारतीय संविधान में धर्म निरपेक्षता की स्थिति का अध्ययन किया गया है ।

धर्म के आधार पर किसी के साथ कोई भेदभाव नहीं किया जायेगा, यह इस देश की परम्परा भी रही है और स्वतंत्रता आन्दोलन के नेताओं ने स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व भी इस सिद्धान्त की वकालत की थी । जब भी नेहरू ने धर्म निरपेक्षता का प्रस्ताव संविधान सभा के समक्ष रखा तो बिना किसी बहस के सर्वसम्मति से यह स्वीकार कर लिया गया ।

यद्यपि मूल संविधान में धर्म निरपेक्षता शब्द का स्पष्ट उल्लेख नहीं था किन्तु 1976 में हुए 42 वें संवैधानिक संशोधन द्वारा इस शब्द को संविधान की प्रस्तावना में जोड़ दिया गया है ।

1. संविधान की प्रस्तावना
2. मूलभूत अधिकारों
3. नीति निर्देशक तत्वों के अध्यायों में भारत की कानून व्यवस्था में सर्वोपरि तत्वों के रूप में धर्म निरपेक्ष मानवतावाद एवं सामाजिक न्याय का रेखांकन तथा विस्तृत विश्लेषण ।

वास्तव में महत्वपूर्ण विचार किसी धर्म की पारंम्परिक पवित्रता नहीं बल्कि एक प्रगतिशील एवं प्रमुख राष्ट्र की शक्ति और एकता है । अतः धर्म निरपेक्षता

से सम्बन्धित संविधान के सभी उपबन्धों में धर्म तथा राजनीति के गठबन्धन से बचने का सुदृढ़ प्रयास देखा जा सकता है क्योंकि राज्य की स्थिरता के लिये ऐसा गठबन्धन अत्यन्त घातक है । यह व्यवस्था वैसे ही है, जैसी एक प्रगतिशील एवं आधुनिक राष्ट्र में होनी चाहिये ।

एक प्रगतिशील राष्ट्र धर्म निरपेक्षता की नींव पर ही खड़ा हो सकता है और यह व्यवस्था भारतीय परम्परा, राष्ट्रीय आन्दोलन के घोषित लक्ष्यों और एक प्रगतिशील विचारधारा के अनुकूल है ।

पाँचवे अध्याय में राजनीतिक प्रक्रिया से आशय और धर्म के साथ उसके सम्बन्ध का विश्लेषण किया गया है ।

छटवें अध्याय में भारतीय राजनीति में धर्म की भूमिका को समझने की व्यापक कोशिश की गई है ।

(1) 1947 में स्वतंत्रता प्राप्ति और भारत का विभाजन, एवं इस सन्दर्भ में गांधी के दृष्टिकोण का अध्ययन ।

(2) 1950 में भारतीय संविधान का निर्माण तथा उसमें स्वीकार किये गये धर्म निरपेक्ष दृष्टिकोण की सांविधिक चर्चा ।

(3) 1952 में होने वाला प्रथम आम चुनाव और कांग्रेस पार्टी का सत्तारूढ़ पार्टी के रूप में अभ्युदय ।

(4) नेहरू का प्रथम प्रधानमंत्री निर्वाचित होना और नेहरू के समय में भारतीय राजनीति में धर्म की स्थिति ।

जवाहर लाल नेहरू का व्यक्तित्व तो बहुत महान था और आधुनिक जीवन मूल्यों के प्रति उनमें गहन आकर्षण भी था । उन्होंने आधुनिक भारत के संस्थागत ढांचे की आधारशिला ही रखी किन्तु वोटों की राजनीति ने सिद्धान्तों को बहुत पीछे ढकेल दिया और कांग्रेस पार्टी धर्मनिरपेक्षता, लोकतंत्र, समाजवाद की बार बार दुहाई देने के बाद भी भारतीय राजनीति में विकसित होने वाली जाति, धर्म एवं सम्प्रदाय की संकीर्ण प्रवृत्तियों को रोक न सकी ।

(5) यहां इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि नेहरू के कार्यकाल तक राष्ट्रीय जीवन में चाहे अनेक कारणों से गिरावट का क्रम प्रारंभ भले ही हो गया हो तो भी आदर्शो एवं मूल्यों के प्रति एक लगाव और चिन्ता भी अवश्य देखी जा सकती है ।

(6) कांग्रेस पार्टी की नेहरू से लेकर आज तक की स्थिति या विश्लेषण।

(7) साम्यवादी दलों की इस संबंध में स्थिति एवं दृष्टिकोण का अध्ययन ।

जहां तक सैद्धांतिक आग्रहों का प्रश्न है निश्चय ही साम्यवादी दल लोकतंत्र, समाजवाद एवं धर्म के राजनीति से प्रथकत्व जैसे आदर्श के प्रति वैचारिक रूप से समर्पित था । किन्तु व्यवहार के स्तर पर भारतीय राजनीति में फैली हुयी नाना प्रकार की विकृतियों और विसंगतियों से अपने आपको यह दल भी बचाये नहीं रख सका।

(8) भारतीय राजनीतिक प्रक्रिया में भाग लेने वाले उन दलों का अध्ययन जिन्होंने धर्म एवं सम्प्रदाय के संकीर्ण मान्यताओं और मूल्यों को धुरी बनाकर राजनीति की ।

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, जनसंघ पार्टी, भाजपा, मुस्लिम लीग, शिवसेना, अकालीदल इत्यादि का अध्ययन एवं विवेचन ।

(9) विश्वनाथ प्रताप सिंह की सरकार द्वारा जल्दबाजी में घोषित की गयी नयी आरक्षण नीति का विश्लेषण जिसने समाज को जाति विभाजन के कगार पर पहुँचा दिया ।

(10) भाजपा नेता लालकृष्ण आडवाणी की रथयात्रा का विश्लेषण ।

(11) रथ का रोका जाना और सराकार गिरने जैसे घटनाओं का अध्ययन एवं विवेचन ।

(12) 30 अक्टूबर को अयोध्या में हुआ नरसंहार का विश्लेषण ।

(13) भाजपा द्वारा धर्म को आधार बनाकर लड़ा गया चुनाव और उसकी प्राप्त सफलता ।

(14) जामिया मिलिया प्रकरण का अध्ययन एवं इन सभी घटनाओं का मूल्यांकन

(15) भाजपा के वरिष्ठ नेता मुरली मनोहर जोशी के चुनाव को दी गयी चुनौती के सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय का उल्लेख ।

तथा अन्त में 6 दिसम्बर 1995 को अयोध्या कांड की बरसी के अवसर पर अमन पसन्द शक्तियों की फिरकापरस्त शक्तियों पर विजय इत्यादि घटनाओं का विस्तृत अध्ययन एवं विश्लेषण का प्रयास किया गया है ।

सातवे अध्याय में इन सभी विषयों के अध्ययन के पश्चात् कुछ उन मूलभूत निष्कर्षों को तलाशने का प्रयास किया गया है जिनको आधार बनाकर भारतीय राजनीति को सही दिशा प्रदान कर सकते है ओर देश पुनः प्रगति एवं विकास के उच्च आयामों तक पहुँच सकता है ।

मैं उन सभी रचनाकारों के प्रति आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने तात्विक या भावनात्मक रूप से इस शोध प्रबन्ध की सामग्री संकलित करने में सहायता प्रदान की है ।

मैं पं. जे. एन. कालेज के राजनीति विभाग के विभागाध्यक्ष तथा अपने निर्देशक डॉ. पी. एन. दीक्षित की ऋणी हूँ जिनके कृपा पूर्ण सोजन्य एवं सत्वर पथ-प्रदर्शन के अन्तर्गत यह शोध प्रबन्ध पुर्ण करने में समर्थ हो सकी हूँ । वस्तुतः यह समूचा शोध प्रबन्ध उनके ही योग्य और सक्षम निर्देशन का परिणाम है ।

मैं अपने पिता श्री आर. पी. राय (प्रवक्ता - राजनीति शास्त्र पं. जे. एन. कालेज) के प्रति अत्यन्त कृतज्ञ हूँ, क्योंकि उनके आर्शीवाद के परिणाम स्वरूप ही मैं शोध अध्ययन करने का साहस कर सकी हूँ ।

अध्याय - प्रथम

प्रतिपाद्य विषय की सामान्य रूपरेखा

अध्याय - 1

प्रतिपाद्य विषय की सामान्य रूपरेखा

प्रस्तुत शोध प्रबंध में मेरा उद्देश्य भारतीय संविधान और व्यवहारिक राजनीति में धर्म की भूमिका का एक आलोचनात्मक अध्ययन एवं मूल्यांकन करना है । निश्चय ही एक शोध प्रबंध की भी अपनी कुछ सीमाएं होती हैं और इसलिये सुदूर अतीत से लेकर तात्कालिक वर्तमान तक भारतीय राजनीति में धर्म की भूमिका का बहुत विराट विश्लेषण तो शायद संभव न हो पाये । किन्तु बुनियादी रूप में कुछ संकेत अवश्य उभर कर सामने आयेंगे । इस शोध प्रबंध में अधिकतर हमारा ध्यान राजनीतिक आजादी की प्राप्ति के पूर्व स्वाधीनता संघर्ष के काल से लेकर स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद के काल तक सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में और राजनीतिक प्रक्रिया में धर्म की भूमिका का विश्लेषण और मूल्यांकन करना है । अगर हम गंभीरता से विचार करेंगे तो हमारे सामने कई महत्वपूर्ण प्रश्न उभर कर सामने आते हैं जिनका उत्तर तलाशने का प्रयास इस शोध प्रबंध में किया जायेगा । धर्म की व्यक्ति के जीवन में क्या स्थिति है ? क्या धर्म को भारतीय राजनीति को प्रभावित करने वाला एक प्रमुख कारक होना चाहिये ? धर्म और राजनीति का बुनियादी रिश्ता क्या है और क्या होना चाहिये ? धर्म और राज्य के सम्बन्धों का कौन सा समीकरण भारत वर्ष के लिये सबसे धनात्मक, उपयोगी और स्वस्थ है ? धर्म निरपेक्ष राजनीति और धर्म निरपेक्ष राज्य से हमारा क्या अभिप्राय है ? क्या धर्म निरपेक्षता एक प्रकार के नास्तिकतावाद और धर्म के विरोध का प्रतीक है ? क्या हमारे देश में जहां लगभग सभी महत्वपूर्ण धर्मो के अनुयायी रहते हैं, धर्म निरपेक्षता के अतिरिक्त कोई दूसरा वैकल्पिक दर्शन संभव और वांछनीय है ? क्या हमारी राष्ट्रीय आजादी की लड़ाई की प्रक्रिया के दौर में ही एक हद तक धर्म निरपेक्षता का आदर्श रेखांकित और स्थापित नहीं हो गया था ? क्या धर्म को पूरी तरह राजनीतिक जीवन से खारिज कर पाना संभव नहीं है ? क्या हमने अपने संविधान में प्रस्तावना से लेकर बाद

तक अनेक स्थानों पर जिस धर्म निरपेक्षता और समता के आदर्श को बार बार अभिव्यक्त और रेखांकित किया है, व्यवहारिक स्तर पर भी राष्ट्र के जीवन में लागू कर पाये हैं ? क्या हमारा उन्चास वर्षों की आजादी के बाद का काल हमें यह बौद्धिक संतोष दे सकता है कि हम अपने निर्धारित लक्ष्य और मंजिल की तरफ एक सही दिशा बोध के साथ आगे बढ़ पाये हैं ? क्या हमारा वर्तमान नाना प्रकार के गंभीर संकटों और समस्याओं से ग्रस्त नहीं है जहां एक बार पुनः भारतीय राजनीति में धर्म की भूमिका को पूरी गंभीरता से विश्लेषित करने की आवश्यकता है ? ऐसे और भी अनेक प्रश्न हमारे सामने उभर कर आ सकते हैं - जिनके उत्तर को बौद्धिक स्तर पर तलाशने का कार्य ही इस शोध प्रबंध का मूलभूत मंतव्य और गंतव्य है ।

धर्म निरपेक्ष राजनीति और धर्म निरपेक्ष राज्य की अवधारणा, उसका विकास भारतीय संविधान में धर्म निरपेक्ष राज्य की स्थिति और भारत में व्यवहारिक राजनीति में धर्म निरपेक्षता के वास्तविक स्वरूप पर शोध प्रबंध लिखने की तात्कालिक प्रेरणा तो आज की वर्तमान स्थितियों से प्राप्त होती है । यदि हम आज अपने देश के वर्तमान सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक स्थिति का अवलोकन करें तो हमें एक जबरदस्त मूल्यों का संकट दिखायी पड़ता है । एक तरफ तो भारतीय संस्कृति में "वासुधेव-कुटुम्बकम्" जैसे आदर्श, भारतीय संस्कृति में उदार मानवीय मूल्य, सभी धर्मों के प्रति एक आदर और समझदारी का दृष्टिकोण और दूसरी तरफ व्यवहार में राष्ट्रीय संदर्भ में उभरती हुई अनेक ज्वलन्त समस्याएं जो राष्ट्र की एकता और शक्ति को पूरी ताकत से कुण्ठित करने पर अमादा है, इस बात के लिये हमें विवश करती हैं कि हम गंभीरता से विचार करें कि गांधी और नेहरू के देश में उभरने वाले साम्प्रदायिक उन्माद, धार्मिक कट्टरतावाद, जाति और वर्ग के वैषम्य तथा संकीर्णताओं से ओत - प्रोत जीवन दृष्टिकोण को पुनः कैसे आदर्शोन्मुख

बना पायेंगे । इस संदर्भ में हमें इस विषय में भी विचार करना होगा कि सिद्धान्त और व्यवहार का यह द्वन्द्व हमें केवल भारतीय राजनीति या समाज में ही नहीं दृष्टिगोचर हो रहा है बल्कि सम्पूर्ण विश्व के मानचित्र पर भी अगर दृष्टि डाली जाये तो हमें जाति, नस्ल, वर्ण और धर्म पर आधारित संकीर्णताएं और उनके परिणामस्वरूप आज के वैज्ञानिक युग में भी धार्मिक कट्टरतावाद का उभरता हुआ विकृत रूप देखने को मिल जायेगा । अयातुल्ला खुमैनी जैसे लोग अपने ढंग से धार्मिक कट्टरतावाद का एक रूप ही तो प्रस्तुत करते हैं । दूर क्यों जाये, अपने ही देश में जहां गांधी जी ने आजादी से पहले धर्म का एक अत्यन्त उदार, व्यापक और मानवीय मूल्य विकसित करने की चेष्टा की थी जिसमें कहीं कोई किसी प्रकार की विकृति, विसंगति, ऊंच-नीच का भाव नहीं था और जहां जवाहर लाल नेहरू जैसे व्यक्ति ने धर्मनिरपेक्षता को एक अत्यन्त धनात्मक एवं गतिशील जीवन दर्शन के रूप में इस वैविध्यपूर्ण देश में विकसित करने की चेष्टा की थी वहीं आज सारा राष्ट्र धार्मिक कट्टरतावाद के जहर से ग्रस्त लग रहा है ।

धार्मिक कट्टरतावाद और सम्प्रदायवाद चाहे वह किसी भी सम्प्रदाय या समुदाय से सम्बन्धित हो कभी भी तर्कसंगत और विवेक संगत नहीं माना जा सकता । धर्म निरपेक्ष दृष्टिकोण और विचारधारा के लिये सहिष्णुता की भावना परम आवश्यक है । आजकल हम एक और विशेष प्रवृत्ति अपने भारतीय समाज में तेजी से उभरती हुयी देख रहे हैं । साम्प्रदायिक संकीणता की दृष्टि इस देश के मुसलमानों में अपनी जड़े काफी गहरी रखती है और उसका एक धर्मनिरपेक्ष राज्य और समाज में कोई तार्किक आधार भी नहीं हो सकता। एक अल्पसंख्यक समुदाय के रूप में मुसलमानों की चेतना में विधमान एक असुरक्षा की भाव और अपनी पहचान को सुरक्षित बनाये रखने के प्रयास को तो हम फिर भी एक सीमा तक समझ सकते हैं । आज हम देखते हैं कि मुस्लिम

साम्प्रदायिकता के विरोध में बहुल हिन्दू समाज में भी साम्प्रदायिकता का एक संगठित और योजनाबद्ध प्रयास कई हिन्दू संगठनों के द्वारा किया जा रहा है । यहां तक कि पुरी के शंकराचार्य ने तो हिन्दू समाज में ही पायी जाने वाली सती प्रथा तक को शास्त्रोचित बताने का कार्य किया । कुछ लोगों की समझदारी तो बौद्धिक स्तर पर इतना दिवालियापन लिये हुये हैं कि वे समझते हैं कि भारतवर्ष के एक हिन्दू राज्य होते ही उसकी बहुत सारी समस्याओं का समाधान हो जायेगा । अगर ऐसा संभव होता तो इस्लाम को अपना धर्म घोषित करने वाले पाकिस्तान और बांगलादेश में कोई बुनियादी समस्या नहीं होती । यहां इस तथ्य को बार बार रेखांकित करना परम आवश्यक है कि हमारे देश की राजनीति और राज्य का एक धर्मनिरपेक्ष रूप ही हमारे समाज को एक गतिशील और स्वस्थ्य दिशा तथा लक्ष्य प्रदान कर सकता है । यहां मैं पंडित मोतीलाल नेहरू के विचारों को उन्हीं के शब्दों में उद्धृत करना चाहूँगी जो उन्होंने ऐतिहासिक नेहरू कमेटी के अध्यक्ष के रूप में 1928 में कहे थे-

There shall be no state religion for the Common Wealth of India or for any province in the Common Wealth, nor shall the State, either directly or indirectly, endow any religion any preference or impose any disability on account of religious beliefs or religious status. No person attending any school receivig State aid or other public money

shall be compelled to attend the religious instruction that may be given in the school. No person shall, by reason of his religion, caste or creed, be prejudiced in any way in regard to public employment, office or power or honour and the exercise of any trade or calling.[1]

यहां पंडित मोती लाल नेहरू को उद्धृत करने का मात्र उद्देश्य यह था कि हम इस बात को समझ सकें कि आजादी के संघर्ष के दौरान भी किस प्रकार हमारे महान नेता इस देश के सन्दर्भ में धर्मनिरपेक्ष राजनीति और राज्य को ही एकमात्र वांछनीय आदर्श के रूप में देखते थे । केवल इतना ही नहीं धार्मिक सहिष्णुता और दृष्टि-कोण की उदारता तो हमारी ऐतिहासिक विरासत का एक अनिवार्य अंग रही है । आज की स्थितियों में केवल राज्य का धर्मनिरपेक्ष होनी ही पर्याप्त नहीं है इसके साथ ही साथ राज्य में निवास करने वाले व्यक्तियों का भी धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण होना अत्यंत आवश्यक है ।

हमारे बहुल समाज में जिस प्रकार अनेक धर्म, विश्वास और संस्कृतियां पायी जाती है केवल धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त के आधार पर ही प्रजातंत्र फल-फूल सकता है । किसी भी देश में कट्टरपंथी मानसिकता प्रगति के मार्ग में सहायक नहीं

---

1. पं0 मोती लाल नेहरू - नेहरू कमेटी के अध्यक्ष '1928'

हो सकती और हमारे देश में इस प्रकार की कट्टरवादिता कुछ तेजी से ही उभरती नजर आ रही है । इस प्रवृत्ति पर गंभीर चिन्ता व्यक्त करते हुये पंडित जवाहर लाल नेहरू ने एक पत्र में डॉ. सैय्यद मुहम्मद को जो बात लिखी थी वह अत्यन्त सार्थक और अभिप्रायपूर्ण है ।

No country or people who are slaves to dogma and the dogmatic mentality can progress, and unhappily our country and people have become extraordinarily dogmatic and little minded. Generosity of heart is a good thing but what is wanted is not an emotional outburst of generosity but coldly reasoned tolerance. Religion as practised in India has become the old man of the sea for us and it has not only broken our backs but stunted and almost killed all originality of thought and mind. Like Sindbad the Sailor we must get rid of this terrible burden before we can aspire to breathe full or do anything useful.[1]

वास्तव में आज स्थिति यह है कि धार्मिक उन्माद किसी एक सम्प्रदाय तक ही सीमित नहीं रह गया है । क्या ऐसी स्थिति में हमारे लिये यह निष्कर्ष

---

1. पंडित जवाहर लाल नेहरू - 'भारत की खोज' पृष्ठ - 95

निकालना पूरी तरह उचित होगा कि हम धर्म को एक नितान्त ऋणात्मक रूप में स्वीकार लें । यहां पर इन्दर मल्होत्रा का यह कथन स्थिति को बहुत सही रूप में प्रस्तुत करता है । उन्होंने एक निबंध में जिसका शीर्षक - "Secularism - must for survival" में अपनी धारणा निम्न शब्दों में व्यक्त की है ।

Religion, of course, must continue to have a place of honour in national life because it does move people powerfully, often profoundly But the place for it is in people's homes and sacred shrines, not the political podium."[1]

यहां इस बात को बिल्कुल स्पष्ट कर दिया गया है कि राष्ट्रीय जीवन में धर्म की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण और सम्मानजनक स्थिति है क्योंकि यह मनुष्य को बहुत गहराई में उद्वेलित और प्रभावित करता है किन्तु राजनीति से इसको अलग ही रखना चाहिये । यहां इस बात पर भी गम्भीरता से विचार करना चाहिए कि धर्म का अभिप्राय कतई नग्न सम्प्रदायवाद नहीं है । सम्प्रदायवाद तो लोगों की धार्मिक भावनाओं का शोषण करके राष्ट्र की एकता के ताने बाने को ही नष्ट कर सकता है । सम्प्रदायवाद और धार्मिक कट्टरतावाद के खतरों के प्रति राष्ट्रीय स्वाधीनता के संघर्ष काल में भी हमारे महत्वपूर्ण राष्ट्रीय नेता अत्यंत जागरूक थे । अगर हम अपने विशाल देश

---

1. मल्होत्रा - शीर्षक निबंध : "Secularism - must for survival" P - 8

के ऊपर दृष्टि डालें तो कई महत्वपूर्ण तथ्य उभर कर सामने आते हैं । जिनको अपने वैचारिक विश्लेषण में बराबर केन्द्र में रखना पड़ेगा ।

भारत एक अत्यन्त विशाल देश है । यहां लगभग सभी महत्वपूर्ण धर्मो के अनुयायी रहते हैं । धार्मिक, भाषायी और सांस्कृतिक वैविध्य भी इस देश के अतीत और वर्तमान की एक महत्वपुसर्ण विशेषता है । राष्ट्रीय आन्दोलन में धार्मिक संकीणता से उपर उठकर सम्पूर्ण देश की आजादी और सम्मान के लिये लड़ने वाले लोगों का दृष्टिकोण मूल रूप से व्यापक, उदार और राष्ट्रवादी था । भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद, रामप्रसाद बिस्मिल, बटुकेश्वर दत्त, यशपाल और ऐसे अनेक क्रांतिकारियों ने सभी प्रकार की संकीणताओं से अपने को मुक्त रखते हुए भारत की आजादी के लिये पूर्ण प्रतिबद्धता के साथ प्रयत्न किये । दूसरी तरफ गांधी, नेहरू, सुभाष, मौलाना अबुल कलाम आजाद, दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, बाल गंगाधर तिलक, गोपाल कृष्ण गोखले, रवीन्द्रनाथ टेगोर, अरविन्द घोष, विवेकानंद और ऐसे अनेक अन्य महापुरूषों के व्यक्तित्व और क्रतित्व पर दृष्टि डालते ही यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि भारतीय नवजागरण का एक लम्बाकाल देश के इतिहास का एक स्वर्णिम काल था । एक अन्य तथ्य की तरफ संकेत करना भी आवश्यक है कि धर्म युगों-युगों तक इस देश में अत्यन्त महत्वपूर्ण व बुनियादी कारक रहा है इसलिये उसको आपने राष्ट्रीय जीवन से पूर्णतया अलग कर पाना तो शायद न संभव है और न वांछनीय है । यहां यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि धर्म कट्टरतावाद, सम्प्रदायवाद, नस्लवाद, जातिवाद जैसी संकीर्ण प्रवृत्तियों से बहुत अलग और ऊपर है और हमें बराबर सजग प्रयास करके इसको इस दिशा में गिरने से रोकना होगा । यों भी अगर हम गंभीरता से विचार करें

तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेगें कि बुद्ध, महावीर, ईसामसीह, मुहम्मद और गांधी जैसे लोगों ने मनुष्य और उसकी विरासत को बहुत अधिक सम्पन्न बनाया । उसको पूर्णरूपेण छोड़कर या अलग हटकर हम बौने ही होंगे । इस संदर्भ में आगे विस्तार से हम धर्मनिरपेक्षता के स्वरूप पर विचार करते समय देखेंगे कि धर्म निरपेक्षता की धारणा कम से कम भारतीय सन्दर्भ में बहुत सीमा तक धार्मिक सहिष्णुता की भी प्रतीक है ।

जब धर्म सम्प्रदायवाद और उन्माद का रूपग्रहण कर लेता है तो इतिहास में बड़े-बड़े क्रूर मजाक भी हुआ करते हैं । इतिहास का यह कितना क्रूर व्यंग्य था कि जिस गांधी की आवाज पर बड़े-बड़े साम्प्रदायिक दंगों में भी लोग शान्त हो जाया करते थे उसी गांधी को धार्मिक उन्माद की बलिवेदी पर अपनी जान गंवानी पड़ी । आजादी के बाद कितना परिश्रम किया गया था और कितनी आस्था से भारत के संविधान का निर्माण किया गया था और उसमें धर्मनिरपेक्ष राज्य की परिकल्पना को साकार करने की चेष्टा की गयी थी । संविधान के अनेक अनुच्छेदों में राज्य के धर्मनिरपेक्ष स्वरूप को सुस्पष्ट और सुनिश्चित करने की चेष्टा साफ देखी जा सकती है । धर्मनिरपेक्षता, समाजवाद औरह लोकतंत्र ये मात्र शब्द नहीं है बल्कि ये आधुनिक युग के सबसे महान मानवीय मूल्य और आदर्श है । वास्तव में आज का युग मनुष्य के व्यक्तित्व की गरिमा और उसमें अर्न्तनिहित आधारभूत समानता को गहराई से रेखांकित करता है और धर्मनिरपेक्षता, लोकतंत्र और समाजवाद उसी को प्रतिध्वनित करते हैं ।

इस शोध प्रबंध में हम धर्मनिरपेक्ष राज्य के विकास को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में भी देखने का प्रयास करेंगे । राज्य और धर्म का संबंध सभी देशों में एक समान नहीं रहा । भारतवर्ष में धर्म और राज्य के मध्य कोई उस प्रकार शत्रुतापूर्ण संबंध

नहीं रहा जैसा यूरोप के इतिहास में हमें देखने को मिलता है । मध्यकाल में यूरोप में चर्च और उसके अधिकारी पोप की सत्ता असीमित सी हो गयी थी और एक प्रकार से सम्पूर्ण मध्य यूरोप राज्य और पोप के पारस्परिक सत्ता संघर्ष का इतिहास है । यह भी अपने आप में एक विचारणीय विषय है कि एक तरफ तो विश्व के सभी महत्वपूर्ण धर्मो का सार तत्व मानवीय प्रेम, करूणा, दया, उदारता और बन्धुत्व पर आधारित है और दूसरी तरफ धर्म अपने संस्थागत रूप में किस तरह से न केवल यथास्थिति का पोषक बन जाता है बल्कि स्वयं अपने आप में शोषण का एक यंत्र और तंत्र बन जाता है । धर्म के संस्थागत स्वरूप को मार्क्स, ऐंजिल्स और लेनिन जैसे विचारकों ने बहुत गहराई से समझा और धर्म के प्रति उनकी दृष्टि बहुत कुछ एक विरोध और शत्रुता की बन गयी । समाज के क्रांतिकारी रूपांतरण में धर्म को इन विचारकों ने एक ऐसे अफीम की तरह माना जो मनुष्य को भाग्यवादी और यथास्थितिवादी तो बनाता है, परिवर्तन और क्रांति की प्रक्रिया को सक्रिय रूप से बाधित भी करता है ।

इस शोध प्रबंध में हम इस संदर्भ में भी विचार करेंगे कि भारतीय राजनीति में धमनिरपेक्षता की धारणा का वास्तविक रूप किस प्रकार विकसित हुआ । सिद्धान्त रूप में यह विचार अनेक स्तरों पर प्रतिष्ठित हो चुका है कि मानव की गरिमा और उसका सम्मान अपने आप में एक महान मूल्य है । अनेक देशों की शासन व्यवस्थाओं में नागरिकों के मौलिक अधिकारोंकी चर्चा है । प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्रता और समता के प्रमुख अधिकार संवैधानिक व्यवस्थाओं में प्रदान किये गये हैं । हमारे देश के संविधान में भी जाति, भाषा, सम्प्रदाय, धर्म के आधार पर किसी प्रकार की कोई दीवार नहीं खींची गयी है और नागरिकों के मध्य सामाजिक समानता के महान आदर्श को

प्रतिष्ठित किया गया है । संयुक्त राष्ट संघ[1] के द्वारा निर्मित मानव अधिकार के घोषणा-पत्र को सदस्य राष्ट्रों का समर्थन प्राप्त है । यह घोषणा पत्र इस तथ्य की तरफ संकेत करता है कि मनुष्य को मनुष्य होने के कारण एक सम्मानजनक और गरिमामय जीवन व्यतीत करने के लिये कुछ निश्चित बुनियादी अधिकार प्राप्त होने चाहिए । मानव अधिकार का घोषणा पत्र एक ऐसा दस्तावेज है जो विश्व की इस सैद्धान्तिक बेचैनी का प्रतीक है कि सभी तथाकथित भेदों और दीवारों को तोड़कर मानव-मानव के मध्य समता का समीकरण कायम किया जा सके । जाति, धर्म लिंग, सम्प्रदाय की कृत्रिम विभाजन रेखाओं को मिटाया जा सके और एक नया मनुष्य और नया समाज ढाला जा सके ।

फ्रांस की क्रांति[2] के पीछे भी प्रेरणास्रोत के रूप में समता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व के तीन महान आदर्श थे । उस क्रान्ति के माध्यम से कहाँ तक इन उद्देश्यों की पूर्ति की जा सकी यह एक अलग प्रश्न है । प्रश्न के इस पहलू पर मैं इस शोध प्रबंध में नहीं जाऊंगी । यहां मूलतः रेखांकित करने योग्य तथ्य यह है कि इस क्रान्ति ने मनुष्य की चेतना में इन तीन महान आदर्शों को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया और मनुष्य की बुनियादी प्रतिष्ठा और गरिमा को रेखांकित किया ।

रूस में भी सन् 1917 की महान क्रांति[3] द्वारा एक समाजवादी समाज की स्थापना कर एक सामाजिक, आर्थिक शोषण से मुक्त समाज बनाने का प्रयास किया । रूस की क्रान्ति के पीछे लेनिन का महान व्यक्तित्व और मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवाद के

---

1. संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना 24 अक्टूबर, 1943
2. फ्रांस की क्रांति सन् 1789 में हुई.
3. रूस की क्रांति सन् 1917 में हुई ।

सिद्धान्त मूल प्रेरणा थे । मार्क्स, गांधी और लोहिया ने अपने अपने ढंग से पूँजीवादी समाज की बुनियादी विसंगतियों को दूर कर समता और संबंधता के आधार पर एक शोषण विहीन समाज की स्थापना के लिये अनवरत संघर्ष किया । एक ऐसा समाज बनाने की अपने अपने ढंग से उन्होंने चेष्टा की जिसमें मनुष्य सम्मान और गरिमा के साथ बिना किसी कुंठा के जीवनयापन कर सके । यहां मैं मार्क्स, गांधी, लोहिया या ऐसे अनेक समतावादी विचारकों के विचारों एवं सिद्धान्तों का विस्तार से विश्लेषण नहीं करूंगी किन्तु इतना संकेत करना परम आवश्यक है कि ये सभी विचारक पूरी निष्ठा और ईमानदारी के साथ एक शोषण विहीन, समतामूलक समाज बनाने के लक्ष्य के प्रति प्रतिबद्ध थे । 'बीसवीं सदी के अंतिम प्रहर में भी जातिभेद, रंगभेद और धार्मिक भेदभाव की समस्या हमारे सम्मुख उपस्थित हैं । शायद इससे बढ़कर कोई दूसरी चुनौती हमारे सम्पूर्ण वैज्ञानिक विकास और प्रगति के सम्मुख नहीं हो सकती ।

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हमने अद्‌भुत प्रगति की है । विज्ञान की आज की उपलब्धियां बीते हुये कल के इंसान के लिये अकल्पनीय और सर्वथा अविश्वसनीय लगने वाली है । अनेक ग्रहों तथा चन्द्रमा तक की यात्रा ही हमने नहीं की बल्कि उनके विषय में पर्याप्त जानकारी भी प्राप्त की है । एक तरफ हमारे विकास और उपलब्धियों का अकूत भण्डार है तो दूसरी तरफ यह दर्दनाक तथ्य कि इतना अधिक आगे जाने के बाद भी हम मन और मस्तिष्क से कितने अधिक संकीर्ण है । मानव की समता और स्वतंत्रता के आदर्श का हमने चाहे जितना मंत्रोच्चर किया हो किन्तु हमारी मानसिकता अभी बहुत पिछड़ी है । जर्मनी में हिटलर के समय में लाखों यहूदी सिर्फ इसलिये मारे गये कि वे यहूदी थे । अफ्रीका में रंगभेद की नीति के तहत वहीं के मूल

निवासियों के साथ वहां के गोरे-युरोपियनों द्वारा क्या क्या अत्याचार नहीं किये गये । मनुष्य के व्यक्तित्व की गरिमा और सम्मान के सिद्धान्त का केवल मंत्रोच्चर ही पर्याप्त नहीं है । अश्वेत नेता नेल्सन मण्डेला आज भी अनेक वर्षों से जेल में गंभीर रूप से बीमार होकर भी अन्याय का जबरदस्त विरोध कर रहे हैं । स्वतंत्रता का उद्‌घोष करने वाले अमेरिका में, सामाजिक जीवन में क्या-क्या अत्याचार नीग्रों ने नहीं सहन किये और कैसे-कैसे सत्याग्रह करके अपने लिये एक सम्मानजनक स्थिति समाज में प्राप्त करने की चेष्टा की ।

अपने देश की चर्चा करने पर तो माथा शर्म से झुक जाता है । जिस देश के पास राजाराम मोहन राय, स्वामी दयानंद सरस्वती, रवीन्द्र नाथ टैगोर, अरविन्द घोष, पंडित जवाहरलाल नेहरू, राम मनोहर लोहिया, जय प्रकाश नारायण जैसे अनेक उदार और मानवीय मूल्यों में गहन आस्था रखने वाले लोग थे, उस देश की वास्तविक स्थिति आज इतनी भयंकर है । यहां विस्तार में जाना तो संभव नहीं है किन्तु संक्षेप में संकेत कर देना आवश्यक है कि इस दिशा में महात्मा गांधी जैसे व्यक्ति ने अपनी सम्पूर्ण नैतिक ऊर्जा के साथ इस देश का निरन्तर मार्गदर्शन किया और गांधी जैसा व्यक्ति तो शताब्दियों में कभी-कभी ही मानव समाज को प्राप्त होता है । गांधी ने धर्म को उसकी पूर्ण गरिमा और गहराई में स्वीकार किया और धर्म का एक अत्यन्त व्यापक, उदार, मानवीय और सहिष्णु रूप विकसित किया । यह इस देश का दुर्भाग्य ही है कि इतने महान व्यक्तियों के गंभीरतम प्रयासों के बावजूद भी अपने देश में मनुष्य जन्म के साथ ही ब्राम्हण, ठाकुर, कायस्थ आदि के रूप में तथा पंजाबी, तमिल, बंगाली और मराठी के रूप में अपनी पहचान रेखांकित करता हैं । भारतीय या हिन्दुस्तानी के रूप में अपनी पहचान बनाने वाले कम ही मिलेंगे

संभव है कि किसी युग में वर्ण व्यवस्था भारतवर्ष में कार्यों के आधार पर निर्मित एक आदर्श व्यवस्था रही हो किन्तु इतिहास के एक लंबे काल में यह इतनी विगलित और विकृत हो चुकी है कि इसको पूर्ण रूप से समाप्त करके ही एक नये इंसान और नये स्वस्थ समाज की रचना की जा सकती है । यों तो स्वामी दयानंद सरस्वती जैसे विचारक जाति व्यवस्था की बुराईयों से क्षुब्ध होते हुये भी वर्ण व्यवस्था के वैदिक आदर्श में इसका समाधान खोजते हैं । किन्तु आज जाति प्रथा इतनी अधिक विक्रतियों एवं विसंगतियों से ओत-प्रोत हैं कि उसमें सुधार करना संभव नहीं है । एक गतिशील, समतामूलक जीवन्त सामाजिक संरचना का निर्माण जाति प्रथा को समाप्त करके ही आधुनिक युग में इस देश में संभव है । जाति के नाम पर इस देश में क्या-क्या अन्याय नहीं होते ? शूद्र इस देश में सामाजिक दृष्टि से इतनी अधिक हीन भावना से ग्रस्त है कि मात्र उनका आर्थिक उन्नयन ही उन्हें आत्मविश्वास नहीं प्रदान कर सकता । उन्हें सामाजिक समता और उससे उपजा सम्मान ही आवश्यक आत्मविश्वास प्रदान कर सकता है । अभिप्राय यह है कि उन्हें आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक हर प्रकार के उन्नयन की आवश्यकता है । इस संदर्भ में यह स्मरण दिलाना भी अनुचित नहीं है कि समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता और लोकतंत्र के आदर्श वास्तव में मानव की बुनियादी समता और गरिमा के प्रतीक हैं । एक ऐसी समाज-व्यवस्था के प्रतीक हैं जिसमें आर्थिक, सामाजिक किसी भी प्रकार की विषमता न हो, शोषण न हो तथा मनुष्य इंसान के रूप में अपनी पहचान को रेखांकित करें । भारत वर्ष में धार्मिक भेदभाव व जाति भेदभाव एक भयंकर जहर के रूप में विकसित हो चुके हैं ।

वास्तव में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत वर्ष ने अपने संविधान में धर्मनिरपेक्ष राजनीति और धर्म निरपेक्ष राज्य का वरण कर अपने उस आदर्श को ही

सैद्धान्तिक स्वरूप प्रदान किया था जो हमारे आजादी के संघर्ष और इतिहास से ही उपजे हुये थे । इसमें कोई दो राय नहीं कि प्रशासनिक प्रणाली और संवैधानिक तंत्र के रूप में हमने जिस धर्म निरपेक्ष राज्य को अपने आदर्श के रूप में स्वीकार किया था वह चयन पूर्णतया सही था । ऊपर से देखने पर आस पास के अनेक पड़ोसी देशों में प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली को नष्ट होते हुये देखकर हम एक सीमा तक संतोष का अनुभव भी कर सकते हैं कि अनेक समस्याओं के बावजूद भी हमारी प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली अपने मूल रूप में विद्यमान है । किन्तु आजादी प्राप्ति के बाद संभवतः धर्म निरपेक्ष दृष्टिकोण को व्यवहार में प्रतिष्ठित करने का सुनियोजित प्रयास ईमानदारी और गंभीरता से नहीं किया गया जिसके कारण आज अनेक गंभीर समस्याएं उठ खड़ी हुयी हैं ।

दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि यह अपने आप में अत्यन्त महत्वपूर्ण अध्ययन का विषय है कि जहां एक तरफ हमने धर्म निरपेक्ष राज्य को एक आदर्श के रूप में स्वीकार किया और संविधान में उसको सुनिश्चित रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया, वहीं दूसरी तरफ व्यवहारिक स्तर पर अपने देश की राजनीति में सभी महत्वपूर्ण राजनीतिक दलों ने धर्म, सम्प्रदाय, जाति और क्षेत्र की संकीर्णताओं और भावनाओं को पूरी तरह उभारा । सबसे दुखद तथ्य तो यह है कि इस देश में बड़ी तेजी से साम्प्रदायिकता धर्म का पर्याय बनती जा रही है और हम तर्क एवं विवेक से यह भली भांति जानते हैं कि साम्प्रदायिकता न तो गहराई में धर्म का पर्याय है और न इसका कोई धनात्मक पक्ष ही है । अगर साम्प्रदायिकता के बढ़ते दानव को पूरी चेष्टा और विचार के साथ राष्ट्रीय जीवन में सुनियोजित ढंग से नहीं रोका गया तो राष्ट्रीय ताना बना ही नष्ट हो जायेगा । यहां इस बात की तरफ संकेत

कर देना भी आवश्यक है कि केवल दक्षिणपंथी राजनीतिक दल और उनके नेता ही लोगों की धार्मिक भावनाओं का शोषण नहीं कर रहे हैं बल्कि अपने को धर्म निरपेक्ष कहने और मानने वाले राजनीतिक दलों के द्वारा भी राजनीतिक लाभ के लिये ऐसे समझौते कई बार किये जा चुके हैं । धर्म जब धार्मिक उन्माद बन जायेगा और राजनीतिक दल उसका लाभ उठाकर सिद्धान्तहीन समझौते करने लगेंगे तो इस पागल पन का कभी निवारण और अन्त नहीं हो सकेगा ।

आज भारतवर्ष में धार्मिक कट्टरतावाद का विकृत स्वरूप हमारे सामने एक ज्वलन्त समस्या के रूप में दिखायी पड़ रहा है । राष्ट्र की एकता, अखण्डता और पहचान आज खतरे में दिखायी पड़ती है । बड़ा विचित्र लगता है किन्तु सत्य तो यह है कि आज हिन्दुस्तान में बहुत मेहनत से खोजने पर भी राष्ट्रीय दृष्टिकोण से सोचने और समझने वाले नागरिकों की संख्या बहुत कम मिलेगी । विभिन्न धर्मों के कट्टर समर्थक अपनी अपनी संकीर्ण जमातें खड़ी करने में व्यस्त दिखायी पड़ते हैं । तर्क और विवेक से सोच समझकर एक राष्ट्रीय दृष्टिकोण विकसित करने की चिन्ता हमारे राजनीतिक दलों और उनके नेताओं में कम ही दिखायी पड़ती है । आज साम्प्रदायिक और धार्मिक कट्टरतावाद की परिधि में अपने अपने ढंग से अपने अपने धर्म के तथाकथित ठेकेदार नेताओं के संरक्षण में विभिन्न सम्प्रदाय के लोग गिरोहबन्दी में लगे हुये दिखायी पड़ रहे हैं । आज राष्ट्र बड़ा सत्य नहीं है बल्कि सभी प्रान्त अपनी अपनी खींचतान में राष्ट्र को कमजोर करते हुये दिखायी पड़ रहे हैं । अपने देश में नागालैण्ड, मिजोरम, पंजाब की समस्याएं पूरे राष्ट्र के सम्मुख चुनौती बनी खड़ी है और कल ऐसी ही अन्य समस्याएं भी अपना सिर उठा सकती है । नेहरू जैसे युग दृष्टा ने

सम्भवतः पहले ही इस सत्य को अच्छी प्रकार से देख और समझ लिया था तभी तो उन्होंने यह उद्घोष किया था ।[1]

चाहे हम कन्या कुमारी में रहे या रामेश्वरम् में, चाहे कश्मीर में रहे, चाहे पुर्व में या पश्चिम में रहे, हम एक हैं, एक मुल्क हैं, जिसको कोई तोड़ नहीं सकता । इसको हम किसी को तोड़ने नहीं देंगे ।

दुर्भाग्यपूर्ण विभाजन के बाद भारत अब भी एक बड़ा मुल्क है । किन्तु किसी देश की विशालता उसके लिये खुशकिस्मती या बदकिस्मती बन सकती है । जब किसी बड़े मुल्क के लोगों के दिल दिमाग बड़े होते हैं और यह छोटे छोटे मामलों तथा झगड़ों में नहीं फँसते तो उस देश की विशालता सौभाग्य बन जाती है किन्तु जब लोगों के दिमाग छोटे होते हैं और वे आपस में लड़ते झगड़ते तथा कटुता से काम लेते हैं तो मुल्क का बड़ा होना बदकिस्मती हो जाता है । यह एक ऐसी बात है, जिसे लोगों को विशेषकर नयी पीढ़ी वालों को, जो कि भविष्य में नेता बनेंगे ध्यान से समझनी है । भारत के नवयुवक भारत की आजादी का झण्डा तभी इज्जत और शान से ऊंचा रख सकेंगे, जबकि वे महात्मा गांधी के आदर्शो के अनुसार मातृभूमि के निर्माण के महान कार्य के लिये उत्तरदायित्व पूर्ण लोकतंत्र के वातावरण में अपने दिल दिमाग को उन्नत होने देंगे । किन्तु यदि वे रास्ते से भटक गये और जानबूझकर या अनजाने में ही उन्होंने हिंसा, नागरिक अव्यवस्था, वर्ग संघर्ष तथा पारस्परिक नफरत का मार्ग पकड़ लिया तो विशाल भारतीय राष्ट्र उज्जवल भविष्य की आशा नहीं कर सकता ।

---

1. पं0 जवाहर लाल नेहरू - 'विश्व इतिहास की झलक' पृष्ठ - 138

इस कथन में नेहरू ने भविष्य में जिस मानसिक संकीर्णता और पारस्परिक नफरत से बचने के लिये देश को आगाह किया था क्या हम व्यवहार में उससे बचपाये? क्या आज भारतीय राजनीति में गांधी और नेहरू की तरह से देश के निर्माण की दृष्टि और संकल्प वाले लोग मौजूद है ? क्या वास्तव में भारतीय गणराज्य एक धर्मनिरपेक्ष राज्य बन सका है ? क्या भारतीय संविधान की मूल प्रस्तावना में जिन आदर्शो एवं मूल्यों की स्थापना के संकेत है उन्हें हम व्यवहार में भी चरितार्थ कर सके हैं ? क्या धर्मनिरपेक्षता का दर्शन जिस उदार सहिष्णुता, सहानुभूति, और समझदारी की अपेक्षा करता है वह हम अपने नागरिकों में विकसित कर सके हैं ? क्या हिन्दुस्तान की सरकार व्यवहार में, वास्तव में धर्मनिरपेक्ष मूल्य को अग्रसरित कर रही है ? क्या मुस्लिम महिला संरक्षण विधेयक जैसे कानून कहीं कट्टरपंथियों से राजनीतिक लाभ के लिये समझौते का संकेत नहीं करते ?

:::::

अध्याय - द्वितीय

धर्म और राज्य के सम्बन्ध का ऐतिहासिक विश्लेषण

अध्याय - 2

धर्म और राज्य के सम्बन्ध का ऐतिहासिक विश्लेषण

धर्म और राज्य के सम्बन्ध में धर्मनिरपेक्ष राज्य की धारणा बहुत प्राचीन नहीं हैं । इतिहास के प्रारम्भिक काल से ही यही दृष्टिगत होता है कि राज्य की आर्थिक व राजनीतिक शक्तियां राजा या सत्ताधारी दल के हाथों में रहती थी । शताब्दियों तक यह धारणा बनी रही कि शासक एक दैवीय व्यक्तित्व है जिसका शासन करने का अधिकार भी दैवीय है । प्राचीन व मध्य युगीन राज्य चाहें वे एशिया के हो या यूरोप के सही अर्थो में धर्म निरपेक्ष नहीं थे ।

ग्रीक की प्राचीनतम सभ्यता में धार्मिक शक्तियां राजा में ही निहित थी । राजा तथा पुरोहित दोनो ही पद एक ही व्यक्ति के हाथों में होते थे । राजा तथा जनता की धार्मिक मान्यताओं में भिन्नता होने पर ही जनता को राजकीय धर्म का ही पालन करना पड़ता था । ग्रीक के धार्मिक विचारों को तीन समूहों में विभक्त कर प्राचीन काल में धर्म और राज्य के सम्बन्धों के सही स्वरूप को जाना जा सकता है । परम्परागत विचारकों के अनुसार राजा को ईश्वर द्वारा पृथ्वी पर शासन करने के लिए भेजा गया है अतः वह ईश्वर का प्रतिनिधि है । क्रांतिकारी विचारकों ने शासकों की धार्मिक नीति को शक्ति पर आधारित किया । उन्होंने सम्पूर्ण शक्ति राजा को प्रदान

कर दी तथा राजा की आज्ञा का पालन करने वाले व्यक्ति को ही सच्चा धर्मनिष्ठ व्यक्ति स्वीकार किया । वे तर्कयुक्त धार्मिक विचारों में विश्वास करते थे और अन्ध विश्वासों के कटु आलोचक थे । तार्किक समूह के विचारक राज्य को ही धर्म का संरक्षक मानते थे उन्होंने राजकीय धर्म तथा धर्म पर राज्य के पूर्ण नियंत्रण का समर्थन किया । प्राचीन यहूदियों में भी ऐसी ही प्रथा थी । जहां राजा तथा पुरोहित अलग अलग होते थे वहां भी राज्य तथा धर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता था । राज्य की ओर से जिस धर्म विशेष को मान्यता दी जाती थी उस धर्म की उन्नति और संरक्षण के लिए राज्य के साधनों का उपयोग किया जाता था । राज्य के अपने देवी-देवता होते थे और उनकी पूजा की विधि भी राज्य द्वारा निर्धारित की जाती थी, राजकीय धर्म का उल्लंघन करने वालों को दंडित किया जाता था ।

सभ्यता तथा धर्म के अनेक व्यवहार इजिप्ट तथा ग्रीस में समान है । इजिप्ट में राजतंत्र की धारणा पूर्णतः धर्मतंत्र पर आधारित थी तथा राजा को ईश्वर का अवतार माना जाता था । यूनान तथा इजिप्ट के धर्म व राज्य सम्बन्ध में एक प्रमुख अन्तर यह है कि जहां यूनान में राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि या व्याख्याता माना जाता था वहां इजिप्ट में राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि या व्याख्याता नहीं बल्कि स्वयं ईश्वर या ईश्वर का पुत्र माना जाता था ।[1] मनुष्य एवं ईश्वर के मध्य यह अनुल्लंघनीय मध्यस्थ भी था ।

रोम भी ग्रीस की सभ्यता व व्यवहारों से प्रभावित था । रोम ने ग्रीक के धार्मिक तथा राजनीतिक विचारों को सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनों ही रूपों में अपनाया ।

---

1. G. Foucast - Encyclopaedia of Religion Vol.V P. 28

रोम में भी राजा राजनीतिक तथा धार्मिक प्रधान था तथा ईश्वर के अवतार के रूप में धर्म में उसकी महत्वपूर्ण भूमिका थी । रोमन शासक निरंकुश थे तथा प्रजा उनकी आज्ञाओं के पालन के लिए बाध्य थी । राजा पुरोहितों की सहायता से ही धर्म के प्रधान के रूप में सभी महत्वपूर्ण धार्मिक क्रियाओं को सम्पन्न करता था । किन्तु बाद में जब ईसाई धर्म का उदय हुआ तो रोमन, सम्राटों ने प्रारम्भ में ईसाई धर्म प्रचारकों को उत्पीड़ित किया और हजारों प्रचारक मारे गये । अन्ततः स्वयं सम्राटों ने ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया । तब राज्य की ओर से ईसाई धर्म के प्रचार के लिये प्रयत्न किये गये । पूरे मध्य युग में सम्पूर्ण यूरोप में धर्म तथा राज्य का घनिष्ट सम्बन्ध रहा । व्यक्तियों को धार्मिक स्वतंत्रता नहीं प्राप्त थी । ईसाई धर्म को राजाश्रय मिलने से ज्यों-ज्यों ईसाई धर्म संघ का विस्तार हुआ त्यों -त्यों रोमन विशप की प्रतिष्ठा भी बढ़ती गई।।[1] सम्राट अपनी मुक्ति के लिए चर्च के सबसे बड़े अधिकारी के सम्मुख नतमस्तक होने लगे । जिसका अभिप्राय था पोप के व्यक्तित्व की सर्वोच्चता स्वीकार करना । राजसत्ता और धर्मसत्ता के मध्य जब विवाद आरम्भ हुआ तो पोप की तरफ से अपनी सर्वोपरिता को प्रतिष्ठित करने के लिये यह तर्क दिया गया कि ईसा ने दोनों तलवारों को अर्थात दोनों सत्ताओं को सेण्टपीटर को सौंपा था और उनके द्वारा बाद में एक तलवार राजा को दी गयी । इसका अर्थ यह था कि सेण्ट पीटर का उत्तराधिकारी पोप न केवल धर्म सत्ता का प्रधान था, वह राजसत्ता का भी सही उत्तराधिकारी था और सम्राट उसकी कृपा से ही राजसत्ता का उपयोग करता था ।

---

1. Krishna Rao - Western Politicla Thought p-16.

पोप की सर्वोच्च सत्ता के सम्बन्ध में उनका दूसरा तर्क (सम्राट कान्सटेण्टाइन का दान पत्र) यह था कि सम्राट कान्सटेण्टाइन ने जब रोम के स्थान पर कुस्तुनतुनिया में अपनी राजधानी को स्थानान्तरित किया तो उसने अपने पश्चिमी साम्राज्य को तत्कालीन पोप सेलवेस्टर तथा उनके उत्तराधिकारियों को दान कर दिया था । जिसके परिणामस्वरूप पोप को उसकी सर्वोच्च राजनीतिक सत्ता भी प्राप्त हो गयी थी । अतः इस दान के कारण पोप राजनीतिक क्षेत्र में भी सर्वोच्च हो गया । ग्रेगरी सप्तक तथा उसके समर्थकों का दावा था कि पोप को किसी भी ईसाई को अनुशासनहीनता पर धर्म बहिष्कृत करने का अधिकार है चाहे वह सामान्य व्यक्ति हो और चाहे राजा । उनका कहना था कि धर्म बहिष्कृत हो जाने पर राजा में वह देवत्व नहीं रह जाता जिसके आधार पर वह लोगों पर शासन करता है ।

बौद्धिक चिन्तन की दृष्टि से सुषुप्त अवस्था में होने के कारण ही विचारकों द्वारा मध्ययुग को "अन्धयुग" की संज्ञा दी गयी । इस युग में स्वतंत्र राजनीतिक चिन्तन का अभाव था क्योंकि धर्म समाज पर इतनी गहराई से छाया हुआ था कि समाज का कोई भी अंग उससे प्रभावित होने से नहीं बचा था । राज्य भी धर्म सत्ता के नियंत्रण में था अतः उसका संचालन भी धर्म सत्ता के हितों के अनुसार किया जाता था।[1] जनता धार्मिक अन्ध विश्वासों से बुरी तरह ग्रस्त थी जिसका लाभ उठाकर धार्मिक अधिकारी स्वतंत्र बौद्धिक चिन्तन को बराबर उपेक्षित व निरुत्साहित करते थे । इन

---

1. Political Theories Ancient & Medieval, Vol.I Page No. 64

सब कारणों के फलस्वरूप सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में यूरोप में धार्मिक क्रांति हुई जो धर्म सुधार आन्दोलन के नाम से प्रसिद्ध है । मार्टिन लूथर, जान काल्विन आदि व्यक्ति इस क्रांति के नेता थे । इस महान क्रांतिकारी आन्दोलन ने रोमन चर्च में बुनियादी परिवर्तनों को जन्म दिया तथा इस विचार को प्रभावहीन कर दिया कि सम्पूर्ण यूरोप एक ईसाई समाज के अन्तर्गत संगठित है, जिसका प्रधान पोप है । अभी तक धार्मिक विवादों में अंतिम निर्णय करने का अधिकारी पोप को माना जाता था । धर्म सुधार आन्दोलन के नेताओं ने इस स्थिति को परिवर्तित कर दिया और पोप के स्थान पर राजा को प्रतिष्ठित कर दिया गया । अतः इस क्रांति से धार्मिक मामलों में पोप के प्रभुत्व का अन्त हो गया, किन्तु राज्य और धर्म का सम्बन्ध नहीं टूटा और न व्यक्ति को धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त हुई । बल्कि पोप के एक छत्र साम्राज्य के नष्ट होने से यूरोपीय समाज में विद्यमान धार्मिक एकता नष्ट हो गयी और सम्पूर्ण ईसाई जगत कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्ड नामक दो भागों में विभाजित हो गया जिसके फलस्वरूप एक सार्वभौम चर्च के स्थान पर कई राष्ट्रीय चर्चों का उदय हुआ । इस कारण धार्मिक असहिष्णुता और संघर्ष बढ़ गया । धर्म के नाम पर इस संघर्ष में लाखों लोग मारे गये । इन धार्मिक संघर्षो ने यूरोप के राज्य को भारी हानि पहुँचायी । चारों ओर अव्यवस्था फैल गई । इन परिस्थितियों में धीरे- धीरे लोगों का दृष्टिकोण परिवर्तित हुआ । लोग अपने को धार्मिक अन्य विश्वासों, धर्माधिकारियों के नियंत्रण तथा धर्मशास्त्रों की दासता से मुक्त करके बुद्धि के आधार पर सोचने विचारने लगे । इस बुद्धिवाद ने धार्मिक सहिष्णुता की भावना को जन्म दिया । अतः इस धार्मिक सहिष्णुता की भावना ने

धार्मिक स्वतंत्रता एवं धर्म निरपेक्षता के विचारों को बल प्रदान किया । अन्त में लोग इस निष्कर्ष पर पहुँचने लगे कि धर्म व्यक्ति का व्यक्तिगत या निजी मामला है । राज्य को उसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये । धीरे-धीरे राज्य को धर्म से स्वतंत्र और पृथक करने का विचार दृढ़ हुआ । उन्नीसवी शताब्दी में यूरोप के अनेक राज्यों ने अपने को धर्म से पृथक किया । किन्तु कुछ देशों में राज्य तथा धर्म का सम्बन्ध बीसवी शताब्दी तक कायम रहा । उदाहरण स्वरूप रूस में सन् 1917 की क्रांति ने राज्य तथा धर्म को पृथक किया ।

इस्लामी देशों में भी राज्य सदैव धर्म पर आधारित रहा । इस्लाम में धर्म और राजनीति एक दूसरे से पृथक-पृथक नहीं थे और मुस्लिम सम्राटों के पास राजनीतिक व धार्मिक दोनों ही शक्ति होती थी । किन्तु वे पवित्र कुरान के निर्देशों के विरूद्ध कभी भी कुछ भी नहीं कर सकते थे क्योंकि मुसलमानों का दृढ़ विश्वास था कि पाक कुरान एक ऐसा आदर्श ग्रन्थ है जो प्रत्यक्षतः अल्लाह (ईश्वर) का ही निर्देश है और जिसमें मानव जाति की प्रत्येक समस्या के लिए अनिवार्य समाधान विद्यमान है । यह धार्मिक तथा राजनीतिक दोनों ही उद्देश्यों के लिए अंतिम सत्ता है । अभिप्राय यह है कि जो शासक पाक कुरान के निर्देशों के अनुरूप शासन करते हैं उन्हें दीनदार कहा जाता है और वहीं इस्लाम में सच्ची श्रद्धा रखने वाला समझा जाता है । इस धर्म का प्रारम्भ अरबिया में हुआ था । जहां हजरत मोहम्मद के उत्तराधिकारी खलीफाओं

के पास राजनीतिक और धार्मिक शक्तियां थी । हजरत अब्दुलकर, हजरत ओमर, हजरत उस्मान और हजरत अली पहले चार खलीफा थे जिन्होंने अत्यन्त सफलतापूर्वक राजनेता तथा धर्म के प्रमुख की भूमिका का निर्वाह किया । उन्होंने पाक कुरान के नियमों के अनुसार शासन किया । यह इस्लाम का स्वर्णीय काल था । इस काल में उनके राजनीतिक विचार के साथ-साथ उनका धर्म भी अत्यन्त तेजी से विश्व के एक बड़े भाग में फैलता गया।[1]

बाद में वर्षो में खलीफाओं के प्रति सम्मान का भाव कम होता गया क्योंकि एक तो वे स्वार्थपूर्ण एवं बिलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करने लगे और कुरान के नियमों की उपेक्षा अपनी सुविधा के लिय मनमाने ढ़ंग से करने लगे । धीरे-धीरे लोगों की आस्था भी उनमें कम होने लगी । इस क्रम में टर्की का सुल्तान अंतिम खलीफा था और उसे भी प्रथम विश्व युद्ध के काल में ब्रिटिश सेना के हाथों अपमान जनक पराजय का सामना करना पड़ा और मुस्लिम जगत की यह मजहबी संस्था समाप्त प्राय हो गयी । यों तो आज भी एक मुसलमान शासक से यही अपेक्षा की जाती है कि वह कुरान के नियमों के अनुसार ही अपने देश पर हुकूमत करेगा ।[2] इस क्रम में राजाओं ने अपनी धार्मिक सत्ता काजी को सौंप दी जो धर्म के क्षेत्र में प्रमाणिक विद्धान होता था । ये काजी न्यायाधीश के रूप में कार्य करते थे और धर्म के मामलों में इन्हीं का निर्णय अंतिम होता था । इनके निर्णय को किसी भी न्यायालय के सम्मुख चुनौती नहीं दी जा सकती थी । यह प्रथा आज भी मुसलमानों में देखी जा सकती है कि सम्भवतया काजी का आदेश बिना किसी विवाद के माना जाता है । अभिप्राय यह कि काजी राजा को धर्म के अतिरिक्त अन्य मामलों में केवल सलाह देने की स्थिति रखता था किन्तु राजा उसकी

---

1. सत्यनारायण दुबे, " राजनीति शास्त्र प्रवेशिका " पृ0 41।
2. H.C. Woven, Mohammedanism in India, P-45.

सलाह को मानने या न मानने के लिये स्वतंत्र था। धर्म के अतिरिक्त अन्य विषयों में राजा की सत्ता ही अंतिम होती थी ।

आज तो हम यहां तक देखते हैं कि कुछ मुस्लिम राज्य जो अपने को लोकतांत्रिक व धर्मनिरपेक्ष घोषित करते हैं वे भी कुरान के नियमों के विरूद्ध कार्य नहीं करते । अब भी कुरान ही अंतिम प्रमाणिक सत्ता का आधार माना जाता है और सामान्यतया मुसलमान धर्म के अतिरिक्त अन्य किसी नारे के प्रति बहुत कम आकर्षण का अनुभव करते हैं । अभी बांग्लादेश का इतिहास बिलकुल ही नया है जहां शेख मुजीव ने इतनी बडी कीमत देकर एक लोकतांत्रिक और समाजवादी राष्ट्र बनाने का ऐतिहासिक अभियान प्रारम्भ किया था । हम सब जानते है कि उसकी दुःखद परिणति क्या हुई और कैसे बांग्लादेश को भी एक इस्लामी देश घोषित कर दिया गया । निष्कर्ष रूप में केवल यही तथ्य रेखांकित किया जा सकता है कि मजहब की पकड़ मुसलमान राज्यों में अब भी बहुत गहरी है और साधारणतया आज के वैज्ञानिक युग की उपलब्धियों ने इन देशों के लोगों के दृष्टिकोण को उतना अधिक तर्कसंगत और आधुनिक नहीं बनाया । यहां इस अपवाद की तरफ भी संकेत करना आवश्यक है कि ऐसे भी व्यक्ति मुसलमानों में गिनाये जा सकते हैं जिन्होंने आधुनिक, तर्कसंगत और वैज्ञानिक दृष्टिकोण को विकसित करने की चेष्टा की । कमाल पाशा ने टर्की को एक आधुनिक राष्ट्र बनाने के लिए क्या-क्या नहीं किया किन्तु कुल मिलाकर मजहब की पकड़ सामान्यतया जकड़न के हद तक थी ।

प्राचीन भारत में स्थिति कुछ भिन्न थी । आधुनिक अर्थ में तो हम प्राचीन भारत के अधिकतर राज्यों को धर्मनिरपेक्ष नहीं कह सकते।[1] राजा प्रायः धर्म की उन्नति के लिए राज्य के साधनों का उपयोग करते थे । अशोक, कनिष्क, हर्ष आदि राजाओं के नाम उल्लेखनीय हैं किन्तु धार्मिक सहिष्णुता सदैव ही भारतीय जीवन की विशेषता रही है।[2] भारतीय राजाओं ने कभी अपनी प्रजा पर अपना धर्म बलपूर्वक लादने का प्रयत्न नहीं किया और न सरकारी नौकरियों में धर्म के आधार पर कोई भेदभाव किया । उदाहरण स्वरूप अशोक ने बौद्ध धर्म को राजधर्म घोषित किया तथा उसके प्रचार और प्रसार में राज्य के सभी साधनों का उपयोग किया किन्तु अन्य धर्मो व धर्मावलम्बियों के साथ उसने सहिष्णुता का व्यवहार किया । अशोक ने समन्वय उत्पन्न करने वाले सिद्धांतों की खोज में प्रत्येक प्रश्न के बुनियादी पक्षों पर अपना ध्यान केन्द्रित किया और उसके फलस्वरूप "धम्म" की प्रसिद्ध नीति का जन्म हुआ । अशोक के धर्म की प्रमुख विशेषता यह थी कि जिन सिद्धांतों तथा आदर्शो का उसने देश-विदेश में प्रचार किया वे किसी धर्म विशेष के सिद्धांत नहीं थे । उसने तो ऐसे नैतिक सिद्धांतों का प्रचार किया जिन्हें प्रत्येक जाति, धर्म तथा देश का व्यक्ति स्वीकार कर सकता था । उसका धर्म वास्तव में सब धर्मो का सार था । राधाकुमुद मुखर्जी ने लिखा है कि उसका धर्म जीवन तथा विचारों के उन आधारभूत सिद्धांतों का समन्वय था जो सर्वमान्य हैं और जिनको समस्त मानवता पर लागू किया जा सकता है ।[3] धम्म के बुनियादी सिद्धांतों में अशोक ने सर्वाधिक बल सहिष्णुता तथा अहिंसा पर दिया । वास्तव में

---

1. आर.सी. अग्रवाल- प्राचीन भारत का इतिहास ' पृष्ठ - 64
2. बी.एल. लूनिया- प्राचीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति पृष्ठ - 86
3. राधाकुमुद मुखर्जी- प्राचीन भारत का इतिहास पृष्ठ - 97

अशोक का धर्म जिसका प्राण तत्व सहिष्णुता था, उसके शासन तथा जीवन का एक अविछिन्न अंग बन गया था । अशोक की धार्मिक नीति ने विदेशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाने व बनाये रखने में महत्वपूर्ण योग दिया और वास्तव में उसकी धार्मिक नीति सहिष्णुता व धर्म निरपेक्षता के सर्वोकृष्ट उदाहरण की परिचायक हैं ।[1]

मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् कुषाण वंश के प्रसिद्ध शासक कनिष्क ने अशोक के समान ही धार्मिक सहिष्णुता की नीति अपनायी तथा अशोक के समान ही ख्याति अर्जित की । कनिष्क के पश्चात् हिन्दू तथा बौद्ध धर्म साथ-साथ विकसित तथा समृद्ध हुए थे । हर्ष ने, जो कि एक हिन्दू सम्राट था और जिसने बाद में बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया था , ब्राह्मण धर्म को भी उचित सम्मान दिया । किन्तु हिन्दू शासकों के पतन के साथ ही एक तरह से धार्मिक सहिष्णुता की भी समाप्ति हो गयी ।

जब इस देश में इस्लाम का प्रवेश हुआ तो धर्म व राज्य का सम्बन्ध अटूट हो गया । मुस्लिम शासक धार्मिक मामलों में प्रायः कट्टर होते थे । वे

---

1. ईश्वरी प्रसाद- प्राचीन भारत का इतिहास, पृ0 72

इस्लाम को ही राजधर्म मानते थे और गैर मुस्लिम प्रजा के साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार करते थे । इस संदर्भ में औरंगजेब का उदाहरण दिया जा सकता है जो भारतीय इतिहास में धार्मिक कट्टरता तथा धर्मान्धता के लिए जाना जाता है और जिसकी धार्मिक कट्टरता की नीति मुगल साम्राज्य के पतन में सहायक सिद्ध हुई । किन्तु मुगलकाल में ही अकबर जैसे कुछ मुस्लिम शासक भी हुए जिन्होंने धार्मिक सहिष्णुता व धर्म निरपेक्षता की नीति पर चलने का प्रयास किया । अकबर की उदार व सहिष्णु धार्मिक नीति के कारण मुगल वंश तथा इस्लाम के समर्थक शासकों को एक विदेशी देश और अपने से पृथक धर्म के मतावलम्बियों पर शासन करने का नैतिक अधिकार प्राप्त हो सका ।[1] अकबर अत्यन्त धार्मिक व्यक्ति था, बीस वर्ष की आयु में ही धर्म और राजनीति में समन्वय न स्थापित कर पाने के कारण उसका मन गहरी पीड़ा का अनुभव करने लगा था । अकबर की यह आध्यात्मिक चेतनाही उसके द्वारा यात्री कर बन्द किये जाने के लिए उत्तरदायी है ।[2] अकबर ने जजिया कर जो गैर मुसलमानों पर लगाया जाता था और जिसे वसूल करना पूर्वकालीन तुर्क अफगान सुल्तानों ने, यहां तक कि अकबर के पिता तथा पितामह ने भी वसूल करना अपना धार्मिक कर्तव्य समझा, समाप्त कर दिया । अकबर ने धार्मिक वाद-विवाद के लिए इबादतखाने का निर्माण कराया तथा उसने हिन्दू, जैन, पारसी, ईसाई सभी धर्मावलम्बियों के साथ सहिष्णुता का व्यवहार किया । उसने लगभग प्रत्येक धर्म से कुछ न कुछ ग्रहण किया । अकबर ने "दीन इलाही" नामक धर्म भी स्थापित किया जिसकी स्थापना सार्वजनिक सहिष्णुता (सुलहकुल) के सिद्धांत पर की गयी । इसी कारण मुगल सम्राटों में अकबर का युग

---

1. आर.सी. मजूमदार - मुगलकालीन इतिहास , पृ0 74
2. आर.सी. अग्रवाल - मुगलकाल का इतिहास. पृ0 85

धार्मिक सहिष्णुता का सर्वोत्कृष्ट युग कहा जा सकता है ।

[1]"भारत में साम्यवादी युग ने वर्णव्यवस्था को जाति व्यवस्था में परिवर्तित कर दिया । स्मृतियों में ब्राह्मणवाद ने धर्मनिरपेक्षता की भावना को समाप्त कर दिया" ऊँच-नीच, छुआछूत, विशेषाधिकार और शोषितों की कृत्रिम श्रृंखलाएँ खड़ी की गयी और कानून में जातिगत भेदभाव किया जाने लगा । किन्तु आजादी से पहले भी अंग्रेजों ने भारत के राष्ट्रीय जीवन की प्रमुख धारा में साम्प्रदायिक विद्वेष उत्पन्न करने के प्रयास किये थे । 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम में हिन्दू और मुसलमान दोनों वर्गों ने मिलकर एक साथ अंग्रेजों के विरूद्ध संघर्ष किया । स्वतंत्रता संग्राम का नेतृत्व भी मुगल सम्राट बहादुरशाह जफर ने किया । हिन्दू नेताओं ने भी मुगल सम्राट के नेतृत्व के अन्तर्गत लड़ते हुए भारी त्याग किये । उस समय तक दोनों वर्गों में आपसी मनोमालिन्य या पृथकतावादी दृष्टिकोण का नामोनिशान नहीं था । वास्तव में इस संघर्ष में मुसलमानों की भूमिका हिन्दूओं से अधिक थी । यहां तक कि अंग्रेज 1857 के विद्रोह में मुस्लिमों को प्रमुख षडयंत्रकारी के रूप में मानते थे और बहाबी आन्दोलन ने उनके संदेह की पुष्टि भी कर दी थी । जिसके फलस्वरूप अंग्रेजों ने जानबूझकर मुसलमानों को नियंत्रित करने की नीति अपनायी ।

---

1. K.N. Verma, 'Principles of Political Science, P- 155.

1870 की दशाब्दी से ब्रिटिश नीति में परिवर्तन आरम्भ हुआ । उन्होंने "फूट डालो व राज्य करो" की नीति के अनुसार हिन्दूओं और मुसलमानों में दरार डालनी आरम्भ कर दी जो कि निरन्तर चौड़ी होती गयी और अन्ततः उसकी परिणति भारत विभाजन में हुई । राष्ट्रीय आन्दोलन के मध्य अनेक घटनाओं के कारण मुस्लिम पृथकतावादी आन्दोलन को बल मिला था । सर सैय्यद अहमद खाँ जो प्रारम्भ में दोनों समुदायों को भारत रूपी दुल्हन की दो आंखे मानते थे, बाद में चलकर हिन्दू विरोधी हो गये और उन्होंने अपनी भाषणों द्वारा यह स्थापित करने का प्रयास किया कि हिन्दू और मुसलमान दो राष्ट्र नहीं बल्कि दो संघर्षरत राष्ट्र हैं जो कभी भी सामूहिक राजनीतिक जीवन नहीं व्यतीत कर सकते । उन्होंने मुसलमानों में इस विचार को पोषित किया कि उनका समुदाय अल्पसंख्यक होने के कारण हिन्दुओं के साथ समानता का स्तर कभी प्राप्त नहीं कर पायेगा , 30 दिसम्बर 1906 को मुस्लिम लीग की स्थापना-[1] द्वारा मुसलमानों को एक अलग पृथकतावादी स्वरूप देने का प्रयास आजादी के पहले के वर्षो में किया गया था । 1909 के मिण्टो मार्ले अधिनियम में सर्वप्रथम मुसलमानों को अपने अलग प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दिया गया । सरकारी नौकरियों में भी बाद में मुसलमानों के लिए स्थान आरक्षित किये जाने लगे । मुस्लिम मतदाता केवल मुस्लिम उम्मीदवार को ही मत दे सकते थे । इससे मुसलमानों में हिन्दुओं से अलग होने की भावना बढ़ी तथा नेहरू प्रतिवेदन के माध्यम से भारत की संवैधानिक व साम्प्रदायिक समस्या का जो हल प्रस्तुत किया गया था , मुस्लिम लीग ने

---

1. 30 दिसम्बर, 1906- ढाका में आगा खाँ द्वारा मुस्लिम लीग की स्थापना

उसे अस्वीकृत कर दिया और उसकी ओर से जिन्ना द्वारा 14 सूत्रीय हल प्रस्तुत किया गया । जिनमें से कुछ सूत्र है :-

(1) केन्द्रीय विधानमण्डल में मुसलमानों का प्रतिनिधित्व कम से कम एक तिहाई हो ।

(2) साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व पृथक निर्वाचन पद्धति द्वारा किया जाये।

(3) सरकारी नौकरियों में मुसलमानों को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त हो ।

(4) मंत्रिमण्डलों में कम से कम एक तिहाई मंत्री मुसलमान हों ।

डा. राजेन्द्र प्रसाद ने लिखा है कि जिन्ना की चौदह शर्तो का इसलिए विशेष महत्व है क्योंकि मैकडोनल्ड के साम्प्रदायिक निर्णय में ये शर्त प्रायः मान ली गयी थी । दूसरे गोलमेज सम्मेलन के अन्त में रैम्जेमैकडोनल्ड (ब्रिटिश प्रधानमंत्री) ने कहा था कि यदि विभिन्न जातियों की साम्प्रदायिक समस्या हल न हुई तो ब्रिटिश सरकार अपना निर्णय देने के लिए विवश हो जायेगी । चूँकि लंदन में विभिन्न जातियों के प्रतिनिधियों में कोई समझौता न हो सका अतः 16 अगस्त 1932 को मैकडोनल्ड ने अपना निर्णय दिया जिसको "साम्प्रदायिक पंचाट" कहा जाता है ।

पंजाब में मुसलमानों, सिक्खों, भारतीय ईसाइयों के लिए अलग चुनाव पद्धति की व्यवस्था की गयी थी । हरिजनों को अलग चुनाव पद्धति द्वारा अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया गया । जिन प्रान्तों में हिन्दुओं की संख्या कम थी उनमें हिन्दूओं को वहीं रियायतें नहीं दी गयी जो मुसलमानों को उन प्रान्तों में दी गयी जहां वे अल्पसंख्यक थे ।

साम्प्रदायिक प्रणाली भारतीय राष्ट्रवाद के लिए अत्यन्त घातक थी किन्तु अंग्रेजों ने फूट डालकर शासन करने की नीति के अनुसार इस प्रणाली को न केवल जारी रखा बल्कि इसका और अधिक विस्तार भी किया । इससे भारत की एकता नष्ट हो गयी और हिन्दू-मुस्लिम में मतभेद उत्पन्न हो गये किन्तु भारत में राष्ट्रीय भावना के उदय के पश्चात् इस जातीयता और साम्प्रदायिकता के विरूद्ध आवाज उठायी गयी और सामाजिक न्याय की मांग की गयी । राष्ट्रीयता की भावना, शिक्षा के विकास, आध्यात्मिक चेतना की जागृति और महात्मा गाँधी के विशेष प्रयत्नों से भारत में धर्म निरपेक्षता की धारणा को पुनः बल मिला ।

इस संदर्भ में गाँधी जी और नेहरू का योगदान अद्वितीय है । यद्यपि इन दोनों महापुरूषों की जीवन दृष्टि में अत्यन्त बुनियादी अन्तर दिखायी पड़ते है किन्तु राजनीति में नैतिक मूल्यों के प्रति नेहरू की आस्था भी उतनी ही सघन थी जितनी

महात्मा गाँधी की । गाँधी ने तो धर्म को अद्‌भुत उदारता और गरिमा प्रदान की । उन्होंने 'हरिजन' में घोषित किया "सत्य" के अनुकूल आचरण करना ही मैं अपना धर्म मानता हूँ" ।[1] धर्म की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है कि 'वह हिन्दू धर्म नहीं है जिसे मैं अन्य धर्मा में सर्वोच्च महत्व देता हूँ । लेकिन मेरा वह धर्म है जो हिन्दुत्व को अतिश्रेष्ठ बनाता है, जो मनुष्य की प्रकृति को परिवर्तित करता है, जो मनुष्य को सत्य से बाँध देता है और जो उसे परिष्कृत करता हैं '।[2] प्रायः लोग भ्रमवश या अहंकारवश यह घोषित करते हैं कि उन्हें धर्म से कोई प्रयोजन नहीं है । गाँधी जी हिन्दू धर्म को स्वीकार करने के साथ ही साथ धर्मा का समान रूप से आदर करते थे क्योंकि उनकी धारणा है 'सब धर्म एक ही स्थान पर पहुँचने के अलग-अलग रास्ते हैं । अगर हम एक ही लक्ष्य पर पहुँच जाते हैं तो अलग-अलग रास्ते अपनाने में क्या हर्ज हैं'।[3] गाँधी जी ने ऐसे किसी भी धर्म के परम्परागत मान्य सिद्धांतों के साथ समझौता नहीं किया जिस पर अन्ध विश्वासों का दुष्प्रभाव हो क्योंकि उनकी मान्यता के अनुसार कोई भी धर्म हिंसा को स्वीकृति नहीं दे सकता । 'यह प्रत्येक हिन्दू के लिए बड़ी लज्जा की बात है कि पशुबलि मंदिर के बिलकुल समक्ष हो जो कि ईश्वर का घर हो' ।[4] अभिप्राय यह है कि उन्होंने परम्पराओं के नाम पर

---

1. ' हरिजन ' - सम्पादन ' महात्मा गांधी ' 3.8.1934
2. यंग इण्डिया- महात्मा गांधी 20.05.1920
3. हिन्दू स्वराज्य - महात्मा गांधी - पृ0 36
4. ' हरिजन ' - महात्मा गाँधी -23.06.1946

चल रहे धार्मिक अन्ध विश्वासों, रूढ़ियों एवं आडम्बरों को तिरस्कृत ही नहीं किया अपितु समाज को उन्हें छोड़ने के लिए प्रेरित भी किया । गाँधी जी के धर्म की प्रमुख विशेषता यह है कि वह बाह्य प्रदर्शन की अपेक्षा आध्यात्मिकता पर अधिक बल देता है और यह आध्यात्मिकता अहिंसा में समग्रित है । अहिंसा की धारणा भी गाँधी जी में इतनी व्यापक थी कि उसमें वाणी, चिन्तन और कर्म तीनों का समावेश पाया जाता है । गाँधी जी के जीवन दर्शन में सत्य सर्वोच्च साध्य है और उन्होंने तो सत्य को इतने उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित किया कि वे घोषित करते हैं कि सत्य ही ईश्वर है । गाँधी सत्य को सर्वोच्च साध्य मानते हैं और अहिंसा को उस लक्ष्य पर पहुँचने का एकमात्र साधन भी घोषित करते हैं ।

गाँधी जी के धार्मिक दृष्टिकोण का बहुत विस्तृत एवं सूक्ष्म विश्लेषण तो यहां संभव नहीं है किन्तु यह संकेत कर देना आवश्यक है कि गाँधी जी सभी धर्मो का समान आदर करते थे । उन्होंने सभी धर्मो की अच्छाइयों को स्वीकार किया और उन्हें जीवन में व्यवहन किया । उनकी प्रार्थना तक में अनेक धर्म की प्रार्थनाओं के महत्वपूर्ण अंश लिये गये हैं । उन्होंने धर्म के विषय में अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "मैं मानता हूँ कि कम या अधिक संसार के सभी बड़े-बड़े

धर्म सच्चे हैं"। 'कम या अधिक' में इसलिए कहता हूँ कि क्योंकि मानव प्राणी अपूर्ण होने से जहां उसका हाथ लगता है वहीं अपूर्णता आ जाती है, पुर्णता तो केवल ईश्वर का गुण है और वह अवर्णनीय है, भाषा में उसका वर्णन नहीं हो सकता"[1]। इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर उन्होंने कहा दूसरे धर्मशास्त्रों की आलोचना करना या उनके दोष बताना मेरा काम नहीं है इसके अलावा यह मेरा विशेषाधिकार है और होना चाहिये कि उनमें जो अच्छाइयां है उनकी मैं घोषणा करूँ और उन पर अमल करूँ[2]

निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते है कि वे सभी धर्मो के प्रति आदर का भाव रखते थे और किसी धर्म विशेष को ऊँचा या नीचा नहीं मानते थे। धर्म तो उनके व्यक्तित्व का प्राण तत्व था। उन्होंने कहा कि वे भोजन के बिना जीवित रह सकते क्योंकि प्रार्थना उनकी आत्मा का भोजन है। उनका धर्म अत्यन्त उदार, व्यापक और मानवीय गरिमा से ओत -प्रोत था। उन्हें किसी दूसरे धर्म के अनुयायी के धर्म परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव नहीं हुआ बल्कि वे तो जीवन पर्यन्त यही आग्रह करते रहे कि एक मुसलमान सच्चा मुसलमान, एक ईसाई सच्चा ईसाई बने। इसी प्रकार धर्म सम्बन्धी उनकी दृष्टि हर प्रकार की सम्भव संकीर्णता से मुक्त थी। एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि गाँधी जी ने धर्म की साधना जीवन के महान संघर्ष से दूर जाकर एकांकी तपस्या के माध्यम से नहीं की बल्कि पूरी तरह राष्ट्रीय जीवन के बहुमुखी संघर्ष में सक्रिय भागेदारी के माध्यम से उन्होंने जीवन और धर्म दोनों की साधना

---

1. यंग इण्डिया - महात्मा गांधी, 1927
2. हरिजन - महात्मा गांधी, 13.3.1937

की । हिन्दू समाज में पायी जाने वाली अनेक बुराइयों, जिनमें अस्पृश्यता सबसे अधिक भयंकर बुराई थी, को दूर करने का भी उन्होंने जीवन भर प्रयास किया । राष्ट्रीय राजनीति को भी उन्होंने साम्प्रदायिक सद्भाव, प्रेम और सहिष्णुता से प्रेरित व पोषित किया । गाँधी जी को जब हम भारतीय राजनीति में धर्म निरपेक्षता को प्रेरित करने वाले संदर्भ में देखते है तो हमारा मूल अभिप्राय यही है कि एक तरफ तो गाँधी जी में सभी धर्मो के प्रति आदर का भाव था, दूसरे उन्होंने राजनीति को नैतिक मूल्यों से भरपूर सींचा । उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व एवं कृतित्व में संकीर्णता का तत्व था ही नहीं । उनका कहना था कि "यहूदी, ईसाई, इस्लाम, फारसी आदि धर्मो का सार वहीं है जो हिन्दुत्व का है । आत्मा के रूप में मनुष्य का नैतिक मूल्य ही धर्म हैं । नैतिक आधार के विनष्ट होते ही मनुष्य की धार्मिकता भी विलुप्त हो जाती है । सब धर्म समान नैतिक नियमों पर आधारित हैं । मेरा नैतिक धर्म उन नियमों से बना है जो सम्पूर्ण विश्व के मनुष्यों को एकता के सूत्र में बाँधते हैं । गाँधी जी के अनुसार सच्ची धार्मिक प्रवृत्ति का अर्थ है कि मनुष्य स्वेच्छा से स्वधर्म को स्वीकार कर ले और उत्साह के साथ उसका पालन करे । परोपकार, सहनशीलता, न्याय, भाई चारा, शांति तथा सर्वव्यापी प्रेम के अर्थ में धर्म ही केवल विश्व के अस्तित्व का आधार बन सकता है इसलिए गाँधी जी ने कहा था कि समाज से धर्म का उन्मूलन करने का प्रयत्न कभी सफल नहीं हो सकता और यदि वह कभी सफल हो सका तो उससे समाज का विनाश हो जायेगा ।

यों तो भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन और राजनीति को स्वाधीनता संघर्ष काल में राजा राममोहन राय से लेकर गाँधी जी तक अनेक महापुरूषों ने अपनी नैतिक ऊर्जा से प्रेरित और प्रभावित किया है किन्तु पंडित जवाहरलाल नेहरू के योगदान की अत्यन्त संक्षेप में चर्चा करना आवश्यक प्रतीत होता है । पंडित नेहरू के व्यक्तित्व के निर्माण में सबसे प्रबल और प्राथमिक प्रभाव तो उनके पिता पंडित मोतीलाल नेहरू का था जो उनके लिए एक आदर्श मानदण्ड बने रहे । यों तो उनका व्यक्तित्व अति आधुनिक और वैज्ञानिक तत्वों से निर्मित हुआ था किन्तु उन पर कई अन्य प्रभाव भी बहुत गहरे थे । सम्राट अशोक, गौतम बुद्ध और गाँधी जी का प्रभाव तो बहुत ही स्पष्ट और मुखर रूप से उनके दृष्टिकोण और आस्थाओं में रेखांकित किया जा सकता है । इसी प्रकार अपने विद्यार्थी जीवन में इंग्लैंड के प्रवास ने भी उनकी जीवन दृष्टि को बहुत गहराई में प्रभावित किया । नेहरू ने कार्ल मार्क्स के साहित्य का भी बहुत गम्भीरता से अध्ययन किया था और चाहे वे कभी भी कट्टर मार्क्सवादी न बने हो किन्तु इतिहास के बन्द दरवाजों और खिड़कियों को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से खोलने और समझने की समझदारी उन्हें मार्क्स से अवश्य मिली । उनकी "भारत की खोज" एवं 'विश्व इतिहास की झलक" दोनों ही पुस्तकों में राजनैतिक समस्याओं को विश्लेषित करने और समझने की मार्क्सवादी दृष्टि साफ देखी जा सकती है । यह एक अलग बात है कि नेहरू में कहीं एक इतना महान स्वप्नदृष्ट्रा और आदर्शवादी व्यक्तित्व भी था जो उन्हें किसी भी पंथ से कट्टरता से जुड़ने नहीं देता था । वे एक महान मानवतावादी और विश्ववादी

थे । राष्ट्रीय आन्दोलन और आजादी के बाद राष्ट्रीय राजनीति को नेहरू ने सही अर्थो में धर्मनिरपेक्षता, लोकतंत्र और समाजवादी को केन्द्र बनाकर विकसित करने की चेष्टा की । उनकी अपनी सीमाएँ भी हो सकती है, उनका गाँधी जी जैसा प्रबल और मुखर धार्मिक दृष्टिकोण भी नहीं था किन्तु नैतिक मूल्यों पर उनका आग्रह गाँधी जी से बेहद प्रभावित था।[1]

पंडित नेहरू की भी वैचारिक एवं व्यवहारिक दोनों स्तरों पर निरन्तर यह कोशिश रही कि राज्य को भरसक एक धर्मनिरपेक्ष संस्था के रूप में विकसित किया जाये । उनकी यह दृढ़ मान्यता थी कि धर्म अथवा अन्तःकरण की आस्था व्यक्ति का नितान्त निजी मामला है और राज्य को हरसम्भव अपने को इस मामले से अलग रखना चाहिये । इस बात को पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है कि धर्म निरपेक्ष राज्य बुनियादी रूप से एक धर्म विरोधी या नास्तिक राज्य नहीं होता । किन्तु एक धर्म निरपेक्ष राज्य में नागरिकों को इस प्रकार की वैचारिक स्वतंत्रता भी होती है कि अगर उनमें से कुछ प्रत्यक्ष एवं मुखर रूप से किसी भी स्थापित धर्म में आस्था न रखते हो तो ऐसा करने की भी उन्हें आजादी सुलभ होती है ।

---

1. Michael Brecher - Nehru Political Biography, P-268.

यहां इस तथ्य की तरफ भी संकेत कर देना आवश्यक है कि जहां धर्म निरपेक्षता का दर्शन सभी धर्मो के प्रति बुनियादी रूप से समान सम्मान एवं सहिष्णुता को प्रोत्साहित करता है वहीं आज के वैज्ञानिक उपलब्धियों से प्रेरित एवं प्रभावित होते हुए धार्मिक संकीर्णता एवं कट्टरतावाद का तार्किक आधार पर निषेध भी करता चलता हैं और इस प्रक्रिया में मानवतावाद को ही सर्वोच्च मानवीय धर्म के रूप में गरिमा और प्रतिष्ठा प्रदान करता हैं ।[1] कुल मिलाकर हम इस निष्कर्ष को रेखांकित कर सकते हैं कि जहां गांधी जी ने धर्म को तमाम संकीर्णताओं, विकृतियों और जड़ताओं से मुक्त करके एक उदार , व्यापक और मानवीय स्वरूप प्रदान किया तथा राजनीति में सत्य और अहिंसा को सर्वोच्च जीवन मुल्य मानकर नैतिक आग्रह को प्रतिष्ठित किया । अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उनके पंचशील का सिद्धांत सम्पूर्ण विश्व के लिए एक प्रकाश पुंज के समान है । देश की राजनीति में नेहरू से धर्म निरपेक्ष राजनीति और धर्म निरपेक्ष राज्य की एक वैज्ञानिक एवं उज्जवल परिकल्पना भी हमारे समक्ष आयी थी । इस देश का यह दुर्भाग्य ही है कि आगे के वर्षो में हमारी राजनीति अन्धी गली में भटक गयी और सैद्धांतिक आग्रह धीरे - धीरे नितान्त गौण ही होते गये ।

---

1. Dr. Prasad - Gandhi & Sarvodaya
Page No. 55

अन्ततः हम कह सकते हैं कि भारत में धार्मिक सहिष्णुता की परम्पराएँ बड़ी दृढ़ रही है । इसलिए यहां धर्म निरपेक्ष राज्य की स्थापना के लिए किसी प्रकार का संघर्ष नहीं करना पड़ा । जब हमारा संविधान निर्मित हुआ तो धर्मनिरपेक्षता के आदर्श को बिना किसी विरोध के स्वीकार कर लिया गया । यद्यपि बयालिसवें (42 वें) संशोधन के पहले तक धर्म निरपेक्षता शब्द का प्रयोग संविधान में नहीं किया गया फिर भी उसकी भावना को पूरा स्थान दिया गया ।

:::::

अध्याय - तृतीय

धर्म और राज्य का पारस्परिक सम्बन्ध तथा इस सन्दर्भ में धर्म निरपेक्ष राज्य की अवधारणा एवं विशेषताएँ

अध्याय - 3

धर्म और राज्य का पारस्परिक सम्बन्ध तथा धर्म निरपेक्ष राज्य की अवधारणा एवं विशेषताऐं

राजनीतिक क्षेत्र में आधुनिक प्रगतिशील विश्व के सर्वाधिक लोकप्रिय शब्द "लोकतन्त्र, समाजवाद और धर्म निरपेक्षता" हैं और विश्व के कुछ साम्यवादी तथा कट्टर धर्मावलम्बी राज्यों को छोड़कर प्रायः अधिकतर राज्य इन आदर्शो को न केवल सैद्धान्तिक रूप से स्वीकार करते हैं बल्कि इन आदर्शो को क्रियान्वित करने के लिये भी अपने आपको संकल्पबद्ध घोषित करते हैं । धर्म और राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों के निर्धारण की प्रक्रिया में धर्म निरपेक्षता का सिद्धान्त आज न केवल लोकप्रिय वरन् एक युगीन आवश्यकता बन गया है ओर लोकतन्त्र तथा सामाजिक न्याय के आदर्शो को भी व्यवहार में उस समय तक प्राप्त नहीं किया जा सकता जब तक कि धर्म निरपेक्षता के सिद्धान्त को न अपना लिया जाये ।

भारत में धर्म एवं राज्य के मध्य कभी उग्र संघर्ष की स्थिति उत्पन्न नहीं हुई बल्कि अधिकतर तो वे एक दूसरे के पूरक ही रहे । न केवल राजसत्ता के अन्दर यहां धार्मिक सहिष्णुता थी बल्कि पूरी भारतीय संस्कृति में ही प्रत्येक धर्म के प्रति सम्मान एवं सहिष्णुता की भावना और प्रवृत्ति हमेशा से विद्यमान रही है । वास्तव में सहिष्णुता की भावना हमारी धर्म निरपेक्ष कार्य रूचि तथा दृष्टिकोण का प्रमाण चिन्ह रही है । यह सहिष्णुता की भावना हमारी अभिरूचि, हमारी विगत अनुकूलता और मानसिक दृष्टिकोण से उत्पन्न होती है । नेहरू ने अपनी आत्मकथा में कहा है - भारत और अन्य देशों में धर्म के नाम से विख्यात परिदृश्य ने मुझमें घृणा उत्पन्न की है और मैंने प्रायः उसकी भर्त्सना की है और मैंने यह इच्छा व्यक्त की है कि उसे नष्ट भ्रष्ट हो जाना चाहिये क्योंकि वह प्रायः अन्धविश्वास और प्रतिक्रिया, मतमतान्तरों तथा

कट्टरता, शोषण तथा निहित स्वार्थों के संरक्षण पर आधारित है । इस प्रकार नेहरू ने एक ऐसे धर्म निरपेक्ष राज्य की कल्पना की जिसमें प्रत्येक समूह तथा प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वयं के ढंग से सांस्कृतिक रूप में या धर्म के मामलों में स्वतंत्र रूप से कार्य करने की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हो ।[1] नेहरू के इसी स्वप्न के अनुसार भारतीय संविधान में धर्म निरपेक्ष राज्य की व्यवस्था की गयी । अगर हम पीछे मुड़कर भी देखें तो हम यही पायेंगे कि हमारे यहाँ धर्म को बहुत संकुचित अर्थ में नहीं स्वीकार किया गया बल्कि धर्म अपने आप में एक अत्यन्त व्यापक, सार्वभौमिक एवं सकारात्मक अवधारणा थी । यहाँ धर्म का अभिप्राय मजहब, अंधविश्वास या मठाधीशों के आदेशों का आँख मूँदकर पालन करना नहीं था जैसा कि पश्चिम के लोग समझते हैं । भारत में धर्म का तात्पर्य "सत्यं शिवम् सुन्दरम्" की खोज था और उसकी उपलब्धियों के लिये साधना थी, अनुभूतियों की श्रृंखलाएं थी । राज्य इन उपलब्धियों से सीखता था धर्म के निर्देशन को स्वयं नियंत्रित करता था । यहाँ धर्म की अगणित श्रृंखलाऐं तो थी लेकिन उनके मूलभूत तत्वों में एकता थी । जहां एकता नहीं थी वहां नयी अनुभूतियों के प्रति सहज सहिष्णुता थी । यह भी एक ध्यान देने योग्य तथ्य है कि यहां धर्म का आधार मान्यताऐं कम और अनुभूतियाँ अधिक हैं । यही कारण है कि राज्य और धर्म के मध्य कभी गंभीर विवाद उत्पन्न नहीं हुये । इसी पृष्ठ भूमि और अनुभव के आधार पर भारत में धर्म निरपेक्षता की अवधारणा भी "सभी धर्मों के प्रति सम्मान की भावना" के रूप में विकसित हुई । यदुनन्दन कपूर लिखते हैं कि "अपने वास्तविक रूप में धर्म

---

1. Pt. Jawaharlal Nehru'Disovery of India'
Page - 157

प्राचीन भारतीय जीवन के उन मानवीय लोक मंगल कारी तत्वों से संबंधित था जो राष्ट्रीयता एवं अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत थे" ।[1] यहां भी बहुल धार्मिकता ही वास्तव में धर्म निरपेक्षता थी जो राजनीति को अधिक उदार और सत्यनिष्ठ बनाती थी, कट्टर नहीं ।

भारत में कोई भी व्यक्ति अपनी पसन्द के अनुसार धार्मिक हो सकता है, किन्तु उसका धर्म उसके लिए एक व्यक्तिगत विषय है । भारत एक धर्म निरपेक्ष राज्य के रूप में जो व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप में धर्म की स्वतंत्रता स्वीकार करता है, किसी व्यक्ति को उसके धर्म पर विचार किये बिना ही उसे एक व्यक्ति के रूप में समझता है और वह संविधान की दृष्टि से न तो किसी से संबंधित है और न ही किसी धर्म विशेष का प्रचार करता है । इसी अर्थ में भारत एक धर्म निरपेक्ष राष्ट्र है ।

यद्यपि वर्तमान शोध प्रबंध में मूलतः मैं वर्तमान भारत में धर्म और राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध की समीक्षा और मूल्यांकन करना चाहूँगी किन्तु किसी भी ऐसी गंभीर समीक्षा और मूल्यांकन के लिये इसे एक ऐतिहासिक सन्दर्भ में देखना और परखना आवश्यक है । जैसा कि मैंने पहले संक्षेप में इस तथ्य को रेखांकित किया है कि प्राचीन काल में धर्म और राज्य में कोई कटुतापूर्ण विरोध के सम्बन्ध नहीं थे । किन्तु जब सन् 1947 के भारत में राजनीतिक विकास की प्रक्रिया के ऊपर गंभीरता से दृष्टि डालते हैं तो व्यवहार में धर्म और राज्य का सम्बन्ध काफी सीमा तक

---

1. यदुनन्दन कपूर - "धर्म निरपेक्ष प्राचीन भारत की प्रजातांत्रिक परम्परा है" पृष्ठ 28

असंतोष जनक और विकृत दिखायी पड़ता है । सैद्धान्तिक आग्रह और मूल्य के रूप में तो हमने धर्म और राज्य के सम्बन्धों के निरूपण के लिये धर्म निरपेक्षता के सिद्धान्त को अपनी राजव्यवस्था और संविधान में स्वीकार किया । जब भारत वर्ष ने धर्म निरपेक्षता के सिद्धान्त को स्वीकार किया तो यह उसका एक निर्णायक और सुचिन्तित निर्णय था जो इतिहास और स्वतंत्रता आन्दोलन के आदर्शों के गर्भ से उत्पन्न हुआ था । यहां इस बात को भी रेखांकित करना अत्यन्त आवश्यक है कि धर्म निरपेक्षता हमारे लिये एक आदर्श या बौद्धिक विलास नहीं है बल्कि यह तो हमारे अस्तित्व और विकास के लिए पूर्णरूपेण आवश्यक है ।

भारत का इतिहास विचारों तथा भावनाओं का एक विस्तृत तथा सामान्य आन्दोलन का इतिहास जैसा रहा है जो शनैः - शनैः समूहों तथा समुदायों के पारस्परिक सम्मिलन से सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक जीवन के परिवर्तनों द्वारा प्रदत्त प्रभावों से उत्पन्न हुआ है । इस पारस्परिक सम्मिलन से भारतीय संस्कृति का एक संयुक्त रूप बना है जिसमें विभिन्न असमान तत्व एक में मिलकर एकाकार होकर एक सम्पूर्णता में निखरे हैं । फिर भी संयुक्त संस्कृति एक निरन्तर कार्यरत प्रक्रिया है और वह कोई अंतिम रूप नहीं है वह एक प्रयोग है और कोई अमूर्त भावना नहीं है । उसकी विशेषज्ञता, आत्म सात्करण तथा संश्लेषण हैं । पंडित जवाहर लाल नेहरू विगत धरोहर से सर्वोत्तम ग्रहण करने और विज्ञान की वर्तमान देन को उसके साथ मिलाकर भारत को एक सुदृढ़ धर्म निरपेक्ष तथा संगठित राष्ट्र बनाने के पक्षधर थे । उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के हैदराबाद अधिवेशन में कहा था । भारत मौलिक

एकता का देश है, किन्तु यहां धर्म , सांस्कृतिक परम्पराओं तथा रहने के ढंग में बहुत विभिन्नता है । केवल पारस्परिक सहिष्णुता तथा एक दूसरे का सम्मान करने से जैसा कि अशोक का मत था हम समस्त भारत को एक मजबूत स्थायी तथा सहकारिता का समुदाय बना सकते हैं । पंडित जवाहर लाल नेहरू ने भारतीय धर्म निरपेक्षता की व्याख्या इस प्रकार की है जबकि धर्म पूर्ण रूप से स्वतंत्र है, राज्य जिसमें विभिन्न धर्म और संस्कृति सम्मिलित हैं, सभी को संरक्षण तथा अवसर प्रदान करता है और इसी से सहिष्णुता का वातावरण बनता है । [1]

धर्म निरपेक्ष राज्य धर्म और राज्य की पृथकता में विश्वास करता है और यह मानता है कि राज्य की ओर से न तो किसी धर्म विशेष को मान्यता दी जा सकती है और न किसी धर्म का विरोध ही किया जा सकता है । [2] इस प्रकार का राज्य धर्म

---

1. पंडित जवाहरलाल नेहरू - भारतीय राष्ट्रीय कॉंग्रेस का हैदराबाद अधिवेशन
2. Dr. Prasad - 'Gandhi - & Sarvodaya' P.58

को व्यक्ति के आन्तरिक विश्वास की वस्तु मानता है और इस धारणा पर आधारित है कि राज्य के द्वारा न तो व्यक्ति के धार्मिक विचारों को प्रभावित किया जा सकता है और न ही उसके द्वारा इस प्रकार का प्रयत्न किया जाना चाहिये । अतः धर्म निरपेक्ष राज्य की परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि धर्म निरपेक्ष राज्य वह राज्य होता है जिसकी तरफ से किसी धर्म विशेष का प्रचार प्रसार या नियंत्रण नहीं किया जाता और जो धार्मिक सहिष्णुता में विश्वास करते हुए सभी धर्मो को समान समझता है तथा राज्य के सभी नागरिकों को बिना किसी भदेभाव के समान सुविधा प्रदान करता है । धर्म निरपेक्ष राज्य के संबंध में कुछ अन्य विचारकों ने भी अपने विचार व्यक्त किये हैं।

वैंकटरमण महोदय धर्म निरपेक्ष राज्य की परिभाषा करते हुए लिखते हैं कि ऐसा राज्य न धार्मिक होता है और न धर्म विरोधी । यह धार्मिक क्रियाओं और मतमतान्तरों से परे और इस प्रकार धार्मिक मामलों में तटस्थ रहता है ।

सी. राजगोपालाचारी ने संविधान सभा में कहा था-"जब यह कहा जाता है कि भारत एक धर्म निरपेक्ष राज्य होगा तो इसका अर्थ यही होता है कि राज्य किसी भी धर्म को न निरूत्साहित करेगा और न इसका विरोध करेगा । इसका सभी धर्मो और विचारों के प्रति निष्पक्षता का दृष्टिकोण होगा । ऐसा राज्य इस बात को मानने से इंकार करता है कि धर्म राष्ट्रों का निर्माण करता है अथवा राज्य का कोई विशेष धर्म होना चाहिये" ।

पं0 जवाहर लाल नेहरू का कथन है कि धर्म निरपेक्ष राज्य का अर्थ है धर्म और आत्मा की स्वतंत्रता जिनका कोई धर्म नहीं उनके लिये भी स्वतंत्रता । इसका अभिप्राय है सब धर्मों के लिए स्वतंत्रता । इसका अर्थ है सामाजिक और राजनीतिक समानता ।

डोनाल्ड ई. स्मिथ के अनुसार-[1] धर्म निरपेक्ष राज्य वह राज्य है जो व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से धार्मिक स्वतंत्रता की प्रत्याभूति करता है जो व्यक्ति के साथ बिना उसकी धार्मिक मान्यताओं का विचार किये नागरिक के रूप में व्यवहार करता है । संवैधानिक तौर पर वह किसी धर्म से संबंधित नहीं होगा । वह न किसी धर्म की वृद्धि की कोशिश करता है और न धर्म में हस्तक्षेप करता है ।

एक धर्म निरपेक्ष राज्य के रूप में भारतवर्ष की विशेषताओं पर गम्भीरता से अपने दृष्टिकोण व्यक्त करते हुए डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णनन ने अपने एक भाषण में बहुत सार्थक टिप्पणी की थी उनकी राय में - एक शांतिपूर्ण सक्रिय और पारस्परिक शिक्षाप्रद सहअस्तित्व की धारणा तो हमारे साथ युगों से विद्यमान रही है । जबयह कहा जाता है कि भारतवर्ष एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है तो इसका यह अभिप्राय नहीं होता कि भारत केवलभौतिक सुख और विलासिताओं का उपासक है अथवा इसका अर्थ यह भी

---

1. D.E. Smith- 'India as a Secular State', P-4

नहीं होता कि भारतवर्ष भौतिक जगत में काल को नियंत्रित करने वाले नियमों के अतिरिक्त उच्चतर नियमों के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता है । इसका केवल इतना अभिप्राय है कि भारत वर्ष किसी एक विशेष धर्म को प्रतिष्ठित नहीं करता बल्कि सभी धर्मों के साथ निष्पक्षता बरतता है और यह संसार के सभी धर्मों में सक्रिय सहअस्तित्व के दर्शन को स्वीकार करता है । आर्य और द्रविड़, हिन्दु और बौद्ध ये सभी नस्लें जो इस देश में आयीं, वे सभी एक प्रकार से आपस में एकताबद्ध सी हो गयी । हम यह अनुभव करते है कि हमारा जन्म अथवा मृत्यु साथ-साथ है और यदि हमें साथ-साथ जीना है तो हममें सहनशीलता भी अवश्य होनी चाहिए । यदि हम "इस या उस" विशिष्ट दर्शन पर विशेष रूप से जोर देंगे तो द्वन्द्व, अव्यवस्था और अराजकता उत्पन्न होगी । अगर हम "इस या उस " दर्शन को ग्रहण करेंगे तो हममें से प्रत्येक अपनी राह चलते हुए इस देश के निर्माण में अपना योगदान दे सकता है तथा हमारे सामने एक ऐसा महान भविष्य भी होगा जिसके निर्माण में सभी समुदाय अपना योगदान देंगे।

हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी भी साम्प्रदायिक सद्‌भाव एवं सांमजस्य, राष्ट्रीय एकता और धर्मनिरपेक्षता में गहन आस्था रखते थे । उनके लिए धर्मनिरपेक्षता का अभिप्राय "सर्वधर्म समभाव" था ।[1] अभिप्राय यह कि उनके मन में सभी धर्मों के लिए समान रूप से गहन समानता का भाव

---

1. Dr. Rajendra Prasad- AT the feet of Mahatma Gandhi- P-308.

था । 1946 में जब देश में गम्भीर साम्प्रदायिक तनाव और संघर्ष की स्थिति थी तो उन्होंने घोषणा की थी कि "वे सभी लोग जो इस देश में पैदा हुए हैं और इसे अपनी मातृभूमि कहते हैं, चाहे वे हिन्दू हों, मुसलमान हों, पारसी हों, ईसाई हों, जैन हों अथवा सिख हों, समान रूप से उन्हीं की सन्तान हैं और इसलिए आपस में भाई-भाई हैं' तथा उनके बीच की एकता रक्त की एकता से भी अधिक प्रबल हैं"।

इन परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्मनिरपेक्षता की संकल्पना में राज्य, धर्म और व्यक्ति के तीन भिन्न किन्तु एक दूसरे से संबंधित समीकरण बनते हैं :-

(1) धर्म और व्यक्ति (धार्मिक स्वतंत्रता)

(2) राज्य और व्यक्ति (नागरिकता)

(3) राज्य और धर्म (धर्म और राज्य का पृथकत्व)

धर्म निरपेक्ष राज्य की कुछ विशेषताओं का उल्लेख करने पर इसे और स्पष्ट रूप से समझा व जाना जा सकता है । धर्म और राज्य के

पारस्परिक सम्बन्ध की दृष्टि से दो प्रकार के राज्य होते हैं - धर्मनिरपेक्ष राज्य और धर्माचार्य राज्य । धर्माचार्य राज्य का अपना एक विशेष धर्म होता है और उसके द्वारा इस धर्म की वृद्धि के लिए विशेष प्रयत्न किये जाते हैं । पाकिस्तान इस्लामी राज्य के रूप में, नेपाल हिन्दू राज्य के रूप में धर्माचार्य राज्य के उदाहरण हैं । किन्तु धर्म निरपेक्ष राज्य का अपना कोई धर्म नहीं होता है । यह सभी धर्मो को समान समझता है और इसके द्वारा किसी विशेष धर्म के प्रभाव को बढ़ाने या कम करने का कोई प्रयास नहीं किया जाता है ।[1]

धर्म निरपेक्ष राज्य किसी धर्म विशेष पर आधारित नहीं होता और उसके द्वारा किसी प्रकार की धार्मिक क्रियाओं का सम्पादन भी नहीं किया जाता है किन्तु धर्म से पृथकता का तात्पर्य यह भी नहीं है कि धर्मनिरपेक्ष राज्य पूर्णरूप से भौतिक या आध्यात्मिक ही हो । किसी विशेष धर्म से संबंधित न होने पर भी इस प्रकार का राज्य सत्य, अहिंसा, प्रेम, विश्व-बन्धुत्व आदि सर्वमान्य सिद्धांतों के प्रति आस्था रखता है और उसके भी मानवीय एवं नैतिक संस्कार बहुत गहरे होते हैं ।[2] धर्म निरपेक्ष राज्य किसी विशेष धर्म से संबंधित नहीं होता वरन् सभी धर्मो के सार "मानव धर्म"

---

1. The Encyclopaedia Dictionary Vol.VI
2. D.E. Smith- 'India is a Secular State'. P - 14

पर आधारित होता है । डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णनन ने विधानसभा में ठीक ही कहा था कि धर्म निरपेक्ष होने का तात्पर्य अधर्मी होना अथवा संकुचित धार्मिकता पर चलना नहीं होता वरन् इसका तात्पर्य पूर्णतया आध्यात्मिक होना होता है ।

धर्म निरपेक्ष राज्य इस बात का प्रतिपादन करता है कि सभी धर्म आधार भूत रूप से एक है अतः धर्म के आधार पर एक दूसरे के प्रति भेदभाव नहीं किया जाना चाहिये । प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा दूसरे धर्मो का सम्मान किया जाना चाहिये । डा. राजेन्द्र प्रसाद "गाँधी और सर्वोदय" में लिखते है[1] कि धर्मनिरपेक्ष राज्य गाँधी जी के इस विचार को स्वीकार करता है कि विश्व के सभी धर्म विशाल वृक्ष की पत्तियों की भांति हैं और विभिन्न धर्मो के अनुयायी दूसरे धर्मो के साथ अपने प्रमुख या गौण भेदों पर जोर दिये बिना एक दूसरे के साथ प्रसन्नतापूर्वक रह सकते हैं"। इसके साथ ही साथ धर्म निरपेक्ष राज्य धार्मिक उदारता का प्रशंसक और धार्मिक कट्टरता का विरोधी भी होता है । इसके द्वारा राष्ट्रीय एकता और शक्ति के हित में ऐसी सभी प्रगतिशील संस्थाओं को प्रोत्साहित किया जाता है जो धार्मिक कट्टरता के प्रभाव को कम करने के लिये कार्य करती है ।

---

1. V. Prasad-'Gandhi & Sarvodaya'P-71.

धर्म निरपेक्ष राज्य सर्वाधिकारवादी धारणा का भी विरोधी होता है ।[1] सर्वाधिकारवाद का अभिप्राय अत्यन्त संक्षेप में यह होता है कि राज्य व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन पर नियंत्रण रखे । धर्मनिरपेक्ष राज्य की मान्यता यह है कि धर्म व्यक्ति के आंतरिक विश्वास और व्यक्तिगत जीवन की वस्तु है और इसलिए राज्य को उस समय तक व्यक्ति के धार्मिक जीवन में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये जब तक कि व्यक्ति का धार्मिक जीवन सार्वजनिक हित में बाधक न बन जाये । इस प्रकार धर्मनिरपेक्षता का आदर्श इस विचार पर आधारित है कि राज्य का अधिकतर कार्यक्षेत्र सर्वव्यापी न होकर प्रतिबंधित तथा सीमित होना चाहिये । धर्म निरपेक्ष राज्य अपने सभी नागरिकों को किसी वर्ग के साथ बिना कोई पक्षपात किये समान सामाजिक व राजनीतिक अधिकार प्रदान करता है । यह सरकारी सेवाओं का जीवन के अन्य क्षेत्रों में धर्म, जाति, वर्ग या अन्य किसी आधार पर कोई भेदभाव नहीं करता है । डा० राधाकुमुद मुखर्जी "अल्पसंख्यकों की समस्याओं में" इस समानता की व्याख्या करते हुए कहते है कि[2] "सभी समुदायों को स्वयं अपने व्यय पर परोपकारी, धार्मिक व सामाजिक संस्थाओं की स्थापना, प्रबंध व नियंत्रण का समान अधिकार होता है । नागरिक या राजनीतिक अधिकारों के उपभोग, सार्वजनिक क्षेत्र में नियुक्ति, सम्मान प्राप्ति तथा उद्योगों के संचालन आदि के सम्बन्ध में धार्मिक मतमतान्तर के आधार

---

1. Encyclopaedia of Social Sciences, Vol. XIII.
2. R.K. Mukherji-'Problems of Minorities' P- 84.

पर कोई भेदभाव नहीं किया जाता है" । इसके विपरीत जो राज्य धर्म निरपेक्ष नहीं होते उनमें शासकीय पदों पर नियुक्तियाँ, आर्थिक, राजनीतिक व सामाजिक अधिकार एवं सुख सुविधाऐं धर्म के आधार पर उपलब्ध की जाती हैं परिणामत: बहुत से लोग भेदभाव के शिकार हो जाते हैं । औरंगजेब के समय में इस्लाम धर्म स्वीकार न करने वालों को जजिया कर देना पड़ता था । अरब देशों में गैर मुसलमानों के साथ समानता का व्यवहार नहीं किया जाता है । ऐसी स्थिति में लोकतांत्रिक सिद्धान्तों का निर्वाह नहीं हो पाता ।

लोकतंत्र का विचार मूल रूप से स्वतंत्रता की धारणा पर आधारित है और धर्म निरपेक्ष राज्य में इन दोनों ही विचारों को उचित महत्व प्रदान किया जाता है । धर्म निरपेक्ष राज्य सभी धर्मों का समान समझता है और इस आधार पर किसी प्रकार भेदभाव नहीं करता है । धर्म निरपेक्षता की धारणा तो धार्मिक क्षेत्र में व्यक्ति की स्वतंत्रता पर आधारित है । यह धार्मिक क्षेत्र में व्यक्ति आत्म निर्णय के अधिकार को मान्यता प्रदान करता है तथा विभिन्न धर्मों के अनुयायियों को समान समझता है । इस प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि धर्म निरपेक्षता की अवधारणा मूल रूप से लोकतांत्रिक होती है । वस्तुत: इसे आध्यात्मिक लोकतंत्र कहा जा सकता है । इसके दो पक्ष होते है, पारलौकिक एवं लौकिक । पारलौकिक पक्ष का तात्पर्य मानव

जाति की सेवा कर स्वयं अपने और अन्य व्यक्तियों के इसी जीवन को सुधारना है । धर्म निरपेक्ष राज्य धर्म के लौकिक रूप में ही विश्वास करता है और इसके द्वारा सामूहिक रूप से अपने सभी नागरिकों के कल्याण के लिए कार्य किया जाता है। धर्मनिरपेक्ष राज्य ग्रीन की इस धारणा में विश्वास करता है कि "राज्य नैतिक जीवन की बाधाओं को दूर करें"। इस दृष्टि से धर्म निरपेक्ष राज्य का सर्वोच्च कर्तव्य जलकल्याण होता है ।

धर्म निरपेक्ष राज्य स्वयं "धार्मिक शिक्षा प्रदान नहीं करता है और सामान्यतया उसके द्वारा ऐसी संस्थाओं को आर्थिक सहायता भी प्रदान नहीं की जाती, जिसके पाठ्यक्रम में धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था रहती है"। धर्मनिरपेक्ष राज्य में जिसके अन्तर्गत किसी एक धर्म से संबंधित सिद्धांतों को अपनाये जाने पर सदैव ही मतभेद और संघर्ष की सम्भावना बनी रहती है । अतः धर्मनिरपेक्ष राज्य न तो धार्मिक शिक्षा के लिए अनुदान देता है और न स्वयं इस प्रकार की संस्थाओं की स्थापना करता है । धर्मनिरपेक्ष राज्य में धार्मिक शिक्षा के निषेध का अभिप्राय यह नहीं है कि राज्य नैतिकता के नियमों को स्वीकार नहीं करता । नैतिकता धर्म निरपेक्ष राज्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण आधार होता है । इस प्रकार के राज्य में विभिन्न धर्मों और रीतियों को मानने वाले व्यक्ति सामूहिक रूप से राज्य के कल्याण के लिए

जाति की सेवा कर स्वयं अपने और अन्य व्यक्तियों के इसी जीवन को सुधारना है । धर्म निरपेक्ष राज्य धर्म के लौकिक रूप में ही विश्वास करता है और इसके द्वारा सामूहिक रूप से अपने सभी नागरिकों के कल्याण के लिए कार्य किया जाता है। धर्मनिरपेक्ष राज्य ग्रीन की इस धारणा में विश्वास करता है कि "राज्य नैतिक जीवन की बाधाओं को दूर करें"। इस दृष्टि से धर्म निरपेक्ष राज्य का सर्वोच्च कर्तव्य जलकल्याण होता है ।

धर्म निरपेक्ष राज्य स्वयं "धार्मिक शिक्षा प्रदान नहीं करता है और सामान्यतया उसके द्वारा ऐसी संस्थाओं को आर्थिक सहायता भी प्रदान नहीं की जाती, जिसके पाठ्यक्रम में धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था रहती है"। धर्मनिरपेक्ष राज्य में जिसके अन्तर्गत किसी एक धर्म से संबंधित सिद्धांतों को अपनाये जाने पर सदैव ही मतभेद और संघर्ष की सम्भावना बनी रहती है । अतः धर्मनिरपेक्ष राज्य न तो धार्मिक शिक्षा के लिए अनुदान देता है और न स्वयं इस प्रकार की संस्थाओं की स्थापना करता है । धर्मनिरपेक्ष राज्य में धार्मिक शिक्षा के निषेध का अभिप्राय यह नहीं है कि राज्य नैतिकता के नियमों को स्वीकार नहीं करता । नैतिकता धर्म निरपेक्ष राज्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण आधार होता है । इस प्रकार के राज्य में विभिन्न धर्मो और रीतियों को मानने वाले व्यक्ति सामूहिक रूप से राज्य के कल्याण के लिए

कार्य करते हैं ।

राज्य की एकता और शांति बनाये रखने के लिए धर्मनिरपेक्षता की नीति सर्वोत्तम है । इतिहास इस बात का साक्षी है कि धार्मिक राज्य अशांति और कलह का कारण बनते रहे हैं क्योंकि धार्मिक राज्यों ने अपने राजकीय धर्मो को बलपूर्वक दूसरों पर लादने का प्रयत्न किया है । मध्ययुगीन यूरोप के इतिहास से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वहां सोलहवीं शताब्दी से लूथर द्वारा चलाये गये धर्म सुधार आन्दोलन के परिणामस्वरूप ईसाई राज्य "रोमन कैथोलिक" और "रोमन प्रोटेस्टेण्ट" नामक दो सम्प्रदायों में बँट गये हैं । इन दोनों ने एक दूसरे को नष्ट करने का प्रयत्न किया । एक धर्म निरपेक्ष राज्य अपने नागरिकों में राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत करने में सक्षम होता है । राष्ट्रीयता ही वह एकमात्र तत्व है जो अल्प संख्यक और बहुसंख्यक दोनों ही समुदायों को एक साथ बाँधे रखता है तथा अल्पसंख्यक एवं बहुसंख्यक समुदायों का मैत्रीपूर्ण गठबन्धन राष्ट्र की एकता व शक्ति के लिए नितान्त आवश्यक है ।

भारतीय संविधान के अनुसार धर्म निरपेक्ष राज्य में सभी नागरिकों को अपनी इच्छानुसार धार्मिक जीवन व्यतीत करने का तो अधिकार है किन्तु उन्हें अन्य धर्मो के विरोध का अधिकार प्राप्त नहीं हैं ।[1] उनके द्वारा ऐसा कोई भी कार्य नहीं किया जा सकता जिससे अन्य धर्मो के

---

1. Ram Gopal- Indian Politics. P - 73

अनुयायियों की धार्मिक भावना को आघात पहुँचे । अतः भारत में नागरिकों को अन्तःकरण की स्वतंत्रता तो प्राप्त है अर्थात किसी भी धर्म को मानने, पालन करने तथा प्रसार करने की स्वतंत्रता तो प्राप्त है किन्तु उन्हें धर्मविरोधी प्रचार करने का अधिकार नहीं है । यहां श्री मानवेन्द्र नाथ राय के एक महत्वपूर्ण कथन को उद्धृत करना भी अनुचित नहीं होगा जिसमें उन्होंने धर्मनिरपेक्षतावाद के बारे में उदात्त द्रृष्टि से व्यक्त किया - सामाजिक - राजनैतिक जीवन स्वतंत्रता की चाह आध्यात्मिक स्वतंत्रता की मूल मानवेच्छा की अभिव्यक्ति है और इसकी तुष्टि ऐसी सांसारिक द्रृष्टि में ही संभव है जो एक अलौकिक शक्ति या आध्यात्मिक स्वीकृति की जरूरत को नकार दे ।

उच्चतम न्यायालय के एक अत्यन्त महत्वपूर्ण और विद्वान भूतपूर्व न्यायाधीश बी.आर. कृष्णाय्यर[1] ने भी इस संदर्भ में अपने विचारों को बड़ी प्रखरता और स्पष्टता के साथ व्यक्त किया है । यहां पर मैं उनके विचारों को उन्हीं के शब्दों में उद्धृत करना चाहूँगी, जिससे स्थिति का एक अत्यन्त स्पष्ट विश्लेषण होता है और एक स्वस्थ दिशा निर्देश भी प्राप्त होता है उनके अनुसार - भारतीय संविधान ने धर्म निरपेक्षता को जिस अर्थ

---

1. (The Time to act is now. V.R.Krishna Iyer), Yojana- August 15, 1988.

में ग्रहण किया है वह ईसामसीह के इस कथन से प्रभावित है, जो राजा का है, वह राजा को दो, जो ईश्वर का है, वह ईश्वर को दो-' । राजा का क्षेत्र राज्य है, जो मानव के इहलौकिक जीवन का नियामक है । ईश्वर का क्षेत्र है मानव की अन्तरात्मा और ब्रहमाण्ड की शक्ति से उसका मिलन । इन दो क्षेत्रों की सीमा निर्धारित करते हुए और कुछ क्षेत्र को सीमा रहित रखते हुए हमारे संविधान में धार्मिक स्वतंत्रता से संबंधित अनुच्छेदों में अहस्तक्षेप की नीति अपनायी गयी है । मोटे तौर पर भारतीय नागरिक को अन्तरात्मा की स्वतंत्रता और किसी भी धर्म के आचार, व्यवहार और प्रचार की स्वतंत्रता है और वह नास्तिक भी रह सकता है । लेकिन यहीं पर एक प्रश्न उठता है कि यदि एक व्यक्ति धर्म का प्रचार करता है तो क्या दूसरे व्यक्ति को उस धर्म का या अन्य किसी धर्म का विरोध करने का अधिकार है ? यह दूसरे व्यक्ति की भाषण एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का सवाल है । इसके अतिरिक्त यदि एक पुरोहित को अपने धर्म का प्रचार करने की स्वतंत्रता है तो एक बुद्धिवादी जिसका विश्वास पुरोहित से बिलकुल भिन्न है, को भी अधिकार है कि वह अपने बुद्धिवादी और ईश्वर विरोधी नारों के प्रचार के लिए पुरोहित के धर्म की आलोचना करें । यहां रूस के संविधान पर दृष्टि डालना उपयोगी होगा । रूप के संविधान के अनुच्छेद 52 में कहा है कि -[1] "रूस के नागरिकों को अन्तरात्मा की स्वतंत्रता है अर्थात किसी धर्म को मानने या न मानने की स्वतंत्रता और धार्मिक पूजा

---

1. रूसी संविधान - अनुच्छेद 52

करने या नास्तिक प्रचार करने की क्षमता है । किन्तु धर्म के आधार पर घृणा और द्वेष को उभारना निषिद्ध है ।

रूस में चर्च को राज्य से और स्कूल को चर्च से अलग रखा गया है । निश्चय ही जब धर्मो की लड़ाई या नास्तिकों के प्रतिरोध से सार्वजनिक शांति भंग होगी तो राज्य पुलिस बल से उसे दबायेगा । प्रायः मुसलमानों तथा ईसाइयों द्वारा धर्म परिवर्तन से हिन्दुओं में और हिन्दुओं द्वारा धर्म परिवर्तन से मुसलमानों - ईसाइयों में असंतोष फैलता है । संविधान में किसी धर्म को "स्वतंत्रता से" पालन करने के अधिकार का वचन दिया गया है और अगर धर्म परिवर्तन रिश्वत, चापलूसी या कोई वायदा करके और जबरदस्ती किया जाता है तो वह "स्वतंत्रता से" की शर्त को पूरा नहीं करता। छोटे बच्चों का जब अंग्रेजी माध्यम के स्कूलों में मुफ्त शिक्षा, डालर छात्रवृत्ति या मिडिल ईस्ट देशों के धन का लालच देकर धर्म परिवर्तन किया जाता है तो वे बच्चे धर्म के विषय में बिलकुल अपरिचित होते है और "स्वतंत्रता से" किसी धर्म को अपनाने की स्थिति में नहीं होते हैं । इसके अतिरिक्त आज के तनावग्रस्त वातावरण में अगर धर्म परिवार की लड़ाई साम्प्रदायिक दंगों का रूप लेती है तो सार्वजनिक शांति भंग होगी ही । सार्वजनिक शांति, स्वास्थ्य

और नैतिकता के अधीन धर्म-परिवर्तन को विनियमित करना राज्य के अधिकार क्षेत्र में आता है ।

पाकिस्तान और बांग्लादेश का इस्लामीकरण भारत के धर्मनिरपेक्षता वाद को क्षत-विक्षत कर रहा है । खाड़ी के देशों का धन भी साम्प्रदायिक प्रतिद्वन्द्विता को बढ़ावा देता है यदि उसका प्रयोग गरीब लोगों के धर्म परिवर्तन के लिये किया जाता है । विदेशी धन से प्रेरित धर्म परिवर्तन के मामले में वामपंथी सरकारें भी भीरूता दिखाती है । दूसरे धर्म के गरीब लोगों की गरीबी का शोषण करने में इस अनुच्छेद का दुरूपयोग चर्च को नहीं करना चाहिये । इस बहुधर्मी देश में धर्म परिवर्तन को विनियमित करने के लिये राज्य के पास काफी अधिकार हैं । राज्य को इस या उस धर्म के साथ कभी पक्षपात नहीं करना चाहिये । राज्य की विनियमन शक्ति को "स्वतंत्रता से" किसी धर्म को मानने के अधिकार में बाधक नहीं होना चाहिये, किन्तु झूठे लालच देकर बच्चों या गरीबों के धर्म परिवर्तन पर उसे रोक लगानी चाहिये । इसमें जो भी मार्गदर्शक सिद्धांत हों, सार्वजनिक शांति , नैतिकता और स्वास्थ्य तक सीमित हों । इस प्रकार का प्रतिबंध सभी धर्मों पर लागू होना चाहिये तथा ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये कि धन की शक्ति, असामाजिक तत्वों के आंतक अथवा बहुसंख्या के बल पर कोई धर्म अन्य धर्मों पर हावी न हो सके ।

धर्म के नाम पर नैतिकता और स्वास्थ्य के नियमों के उल्लंघन को रोकने का राज्य को पूरा अधिकार है । अगर महामारी के दिनों में पूजा स्थलों को सरकार नियंत्रित करती है या सार्वजनिक शांति के लिए धार्मिक प्रार्थनाओं, जुलूसों पर प्रतिबंध लगाती है तो राज्य को ईश्वर से ऊपर जाना चाहिये । सार्वजनिक शांति के नाम पर धार्मिक स्थानों के प्रबन्ध की जांच भी की जा सकती है जिससे वहां अपराधियों, शस्त्रों और अवैध संग्रह को रोका जा सके । स्वर्ण-मंदिर में हत्यारों को शरण मिली और वहां हथियार जमा किये गये, यह कानून द्वारा आत्म हत्या करने जैसा प्रसंग है । धार्मिक स्थानों की निधि का गबन, पूजा स्थलों का कुप्रबन्ध और अन्य सामाजिक बुराइयों पर नियंत्रण पाना राज्य के अधिकार क्षेत्र में आता है । इसी तरह किसी भी आर्थिक, राजनीतिक गतिविधि को नियंत्रित करना चाहे उसका सम्बन्ध किसी धार्मिक रस्म से हो और समाज कल्याण तथा समाज सुधार के कार्य करना भी राज्य के अधिकार क्षेत्र में आते हैं ।

माननीय भूतपूर्व न्यायाधीश का विश्लेषण धर्म निरपेक्षता के स्वस्थ एवं धनात्मक सैद्धांतिक तथा व्यवहारिक आयामों पर पर्याप्त प्रकाश डालता है और यह भी स्पष्ट संकेत करता है कि हम राष्ट्र के संवैधानिक, राजनैतिक एवं सामाजिक जीवन में धर्म निरपेक्षता को कैसे एक निष्क्रिय एवं उदासीन दृष्टिकोण के रूप में परिवर्तन न करके उसे एक धनात्मक एवं गतिशील रूप प्रदान करते है।

इस प्रकार धर्म व राज्य का सम्बन्ध तथा इस संदर्भ में धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा, परिभाषा एवं उसकी विशेषताओं का मूल्यांकन करने के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि धर्म का हमारे राष्ट्रीय जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि यह मनुष्य को गहराई में सशक्त रूप से उद्वेलित करता है किन्तु धर्म का यह स्थान केवल लोगों के घरों और धार्मिक स्थलों तक ही सीमित है, राजनैतिक क्षेत्र में नहीं । सभी धर्मों में पाये जाने वाले नैतिक मूल्यों और आदर्शों में एक गहन समानता स्पष्ट दिखायी देती है । आखिर सभी धर्म मनुष्य को एक बेहतर इंसान बनाने की दृष्टि से ही तो विकसित हुए है यह अलग बात है कि व्यवहार में उतरते-उतरते किसी धर्म के मूलभूत नैतिक सिद्धांत और आदर्श मनुष्य के हाथ से छूट जाये और वह एक पागल धर्मान्धता का शिकार बन कर रह जाये । यह भी पूर्णतया सत्य है कि सम्प्रदायवाद जो किसी भी रूप में धर्म नहीं है केवल धर्म का विशुद्ध दोहन हैं और जो राष्ट्रीय एकता व अखण्डता के लिए एक गम्भीर संकट है, उसको पूरी शक्ति से रोकना चाहिये । सम्प्रदाय चाहे वह बहुमत का हो या अल्पमत का दोनों ही राष्ट्रीय एकता के लिए घातक हैं ।[1] एक समय था जब श्री जवाहरलाल नेहरू ने यह कहा था कि बहुमत का सम्प्रदायवाद अल्पमत से सम्प्रदायवाद से भी घातक होता है । विभाजन के तुरन्त बाद की परिस्थितियों में तो इस कथन की कुछ सत्यता थी किन्तु वर्तमान समय में अल्पमत का सम्प्रदायवाद भी कितना घातक हो सकता है, यह पंजाब की स्थिति को देखकर सहज ही समझा जा

---

1. S.M.H. Burney- 'Secularism need for a movement' YOjana August,1988. P - 28

सकता है । साम्प्रदायवाद जिसने सम्पूर्ण सामाजिक जीवन को अस्त-व्यस्त कर दिया है और अनेक संकीर्ण भावनाओं एवं विभाजक प्रवृत्तियों को जन्म दिया है वह मूलतः अज्ञानता का परिणाम है और अज्ञानता मात्र व्यवस्थापिका द्वारा कानून बनाकर दूर नहीं की जा सकती है बल्कि परम्परागत भारतीय मस्तिष्क को शिक्षित करके तथा एक धर्म निरपेक्ष दृष्टिकोण अपनाकर ही सम्प्रदायवाद के मूल कारण अज्ञानता को दूर करने का प्रयत्न किया जा सकता है ।

यहां यह भी स्पष्ट करना होगा कि धर्म व राज्य के सम्बन्धों में धर्म निरपेक्षता का दृष्टिकोण मूलतः कोई धर्मविरोध का दृष्टिकोण या दर्शन नहीं है इसके विपरीत भारत जैसे विशाल, विविध, भाषाओं और नाना प्रकार के धर्मों वाले देश में धर्मनिरपेक्षता एक ऐसे दृष्टिकोण का संकेत देती है जिसमें सभी धर्मों के प्रति समान आदर की भावना पायी जाती है । वर्तमान समय में भारतीय प्रजातंत्र को जिन संकीर्ण विभाजक प्रवृत्तियों का सामना करना पड़ रहा है उसके प्रत्युत्तर में धर्मनिरपेक्षता भी एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है । अगर हम धर्म निरपेक्षता का त्याग कर देंगे तो इसके परिणामस्वरूप अनेक सामाजिक एवं राजनीतिक तनाव तथा विभेदों का जन्म होगा और हम एक स्वतंत्र तथा आत्मनिर्भर राष्ट्र के नागरिक के रूप में जीवन व्यतीत नहीं कर सकेंगे ।

वास्तव में किसी भी देश में जहां जाति वर्ग, नस्ल का भेदभाव विद्यमान होगा वहां राष्ट्रीय एकता के लिए गम्भीर संकट उत्पन्न हो जायेगा तथा आर्थिक एवं राष्ट्रीय प्रगति अवरूद्ध हो जायेगी । इन सबसे बचाव का सर्वोत्तम तरीका यही है कि धर्म निरपेक्षता पर आधारित एक नया सामाजिक ढाँचा निर्मित किया जाये ।

अतः यह स्पष्ट है कि धर्मनिरपेक्षता आधुनिक वैज्ञानिक युग के मूलभूत सिद्धांतों मानवीय समानता, स्वतंत्रता तथा समाजवाद के मूल्यों को भी अपने आप में समेटे हुए है । व्यवहार के स्तर पर आजादी के बाद हमारे राष्ट्रीय जीवन में क्रमशः जो गिरावट आयी है वह धर्म और राजनीति के पारस्परिक सम्बन्धों में भी परिलक्षित हुई किन्तु उसका विस्तृत विवेचन आगे अन्य अध्यायों में किया जायेगा ।

:::::

अध्याय - चतुर्थ

भारतीय संविधान में धर्म एवं राज्य के सम्बन्धों का स्वरूप

अध्याय - 4

भारतीय संविधान में धर्म और राज्य के सम्बन्धों का स्वरूप

यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि धर्मनिरपेक्षता और प्रजातंत्र की समान सांस्कृतिक जड़े हैं । स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रातृत्व प्रजातंत्र के सर्वमान्य मूल्य है । स्वतंत्रता का सही उपयोग भी वही व्यक्ति कर सकता है जो कि आत्मनिर्भर हो, स्वतंत्र मस्तिष्क वाला हो तथा धार्मिक अन्धविश्वास एवं कट्टरता से अलग हटकर अपने विवेक पर विश्वास करता हो । केवल एक धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति ही वास्तव में लोकतांत्रिक तथा एक लोकतांत्रिक व्यक्ति ही वास्तव में धर्मनिरपेक्ष भी हो सकता है । भारत में सदैव से ही धर्म का विशेष महत्व रहा है किन्तु कालान्तर में धर्म के संकुचित रूप का प्रचलन हो गया और धर्म के नाम पर अनेक मत मतान्तर प्रचलित हो गये जिनके परिणाम स्वरूप समाज विभिन्न वर्गो में विभाजित हो गया जिससे राष्ट्रीय एकता को आघात पहुँचा । धार्मिक मत-मतान्तरों के इन दुष्परिणामों को देखते हुये भारतीय संविधान निर्माताओं ने धर्म निरपेक्षता के आदर्श को अपनाया । धर्म के आधार पर किसी के साथ कोई भेदभाव नहीं किया जायेगा यह इस देश की एक परम्परा भी रही है और स्वतंत्रता आन्दोलन के नेताओं ने स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व भी इस सिद्धान्त की ही वकालत थी । जब श्री नेहरू ने धर्मनिरपेक्षता का प्रस्ताव संविधान निर्मात्री सभा के सम्मुख रखा तो इस प्रस्ताव पर किसी तरह की कोई बहस नहीं हुयी और इसे सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया गया । संविधान सभा में ही यह बात भी स्पष्ट कर दी गयी थी कि धर्मनिरपेक्षता से तात्पर्य धर्म विरोध से नहीं है तथा राज्य एक धर्म विरोधी राज्य न होकर नैतिकता, आध्यात्मिकता और मानवधर्म पर आधारित एक वास्तविक धार्मिक राज्य होगा । यहीं इस बात को रेखांकित कर देना भी आवश्यक है कि संविधान के मूल प्रस्ताव में धर्म

निरपेक्ष एवं समाजवाद शब्दों का अलग से समावेश नहीं किया गया था किन्तु उसकी भावना को पूरा स्थान दिया गया था । 1976 में किये गये बयालिसवें संशोधन [1] द्वारा धर्म निरपेक्षता एवं समाजवाद शब्दों को संविधान की प्रस्तावना में ही जोड़ा गया । यह सत्य है कि धर्म निरपेक्षता के सिद्धान्त को स्वीकार कर संवधिान निर्मात्री सभा ने एक शानदार कार्य किया ।

उदारवादी लोकतंत्र के विकास के साथ ही धर्म निरपेक्षता की अवधारणा का विकास हुआ । समानता एवं स्वतंत्रता के अधिकारों का उपयोग तभी सम्भव है जब बिना किसी धार्मिक संकीणता के उनका वितरण एवं संरक्षण हो । वस्तुतः धर्म निरपेक्षता की प्रक्रिया हमारे राष्ट्रीय जीवन का ताना बाना है क्योंकि यह मात्र एक अमूर्त सिद्धान्त दार्शनिक मत अथवा सांस्कृतिक विलास नहीं है, बल्कि यह हमारी मिली जुली विरासत के सूक्ष्म तंतुओं का प्राण है ।

धर्म निरपेक्षता सामाजिक न्याय का आधार है । धर्म निरपेक्षता (जिसके अन्तर्गत ही समानता तथा स्वतंत्रता के अधिकारों का सही एवं निष्पक्ष उपयोग सम्भव है) के आदर्श को प्राप्त करने के लिये भारतीय संविधान के अन्तर्गत अनेक व्यवस्थाएं की गयी है । संविधान की प्रस्तावना, मूलभूत अधिकारों तथा नीति निर्देशक सिद्धान्तों के अध्यायों में भारत की कानून व्यवस्था के सर्वोपरि तत्वों के रूप में धर्म निरपेक्ष मानवतावाद

---

1. भारतीय संवैधानिक संशोधन 42 - 1976

और सामाजिक न्याय को रेखांकित किया गया है । संविधान सभा के एक सदस्य पंडित लक्ष्मीकांत मैत्रा ने संविधान में निहित धर्मनिरपेक्ष राज्य की सम्पूर्ण धारणा की बड़ी स्पष्ट तौर पर व्याख्या की ।[1] उन्होंने 8 दिसंबर 1948 को कहा कि धर्मनिरपेक्ष राज्य से मेरा आशय यह है कि राज्य किसी व्यक्ति के प्रति, जो किसी विशेष प्रकार का धार्मिक विश्वास रखता हो, केवल धर्म या सम्प्रदाय के आधार पर विभेद नहीं करेगा । सार रूप में इसका यह अर्थ है कि राज्य किसी विशेष धर्म को प्रश्रय नहीं देगा । राज्य किसी धर्म की उपेक्षा नहीं करेगा या दूसरे धर्मों की तुलना में किसी धर्म को स्थापित, संरक्षित व पोषित नहीं करेगा । राज्य में किसी नागरिक को न तो उच्चता प्रदान की जायेगी और न उसके प्रति इस आधार पर कोई विभेद किया जायेगा कि वह किसी विशेष धर्म का पालन करता है । दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि राज्य के कार्यों में किसी धर्म विशेष का अनुपालन लेशमात्र भी विचारणीय नहीं होगा । मैं इसे धर्म निरपेक्ष राज्य का सार समझता हूँ । साथ ही हमको इस दृष्टि के प्रति भी सजग रहना चाहिये कि हमारे देश में किसी विशेष धर्म के पालन व आचरण के अधिकार से ही नहीं वरन् किसी भी धर्म का प्रचार करने के अधिकार से भी कोई वंचित न होने पाये इसलिये संविधान में इसका केवल अधिकार के रूप में नहीं वरन् मौलिक अधिकार के रूप में प्रावधान किया गया है ।

धर्म निरपेक्षता तथा धर्म और संविधानवाद में महत्वपूर्ण तत्वों की संकल्पनाओं को जो धर्म निरपेक्ष मानवतावाद को प्राण शक्ति प्रदान करती है स्पष्ट करना अनिवार्य है । भारत के संविधान में 'हम भारत की जनता' के प्रेरणादायक शब्द इस बात पर निष्ठा व्यक्त करते हैं कि भारत के संविधान में सभी भारतीय का समावेश हो जाता है । हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, सिख, बौद्ध, जैन और अन्य सभी धर्मों के स्त्री

---

1. लक्ष्मीकांत मैत्र - 8 दिसम्बर 1948.

पुरूष 'हम भारत की जनता शब्द के अन्तर्गत आ जाते हैं । यह धर्म निरपेक्ष भाव सीमाहीन और सर्वव्यापी है और एक भिखारी भी इस गणतंत्र का औपचारिक संस्थापक है । गांधी जी ने 9 अगस्त 1942 को चेतावदी दी थी कि[1] :

हिन्दुस्तान उन सब लोगों का है जो यहां पैदा हुये हैं, बढ़े हैं और जो किसी और देश की तरफ नहीं देख सकते । अतः इस पर पारसियों, भारतीय ईसाईयों, मुसलमानों तथा अन्य गैर हिन्दुओं का उतना ही हक है जितना कि हिन्दुओं का। आजाद हिन्दुस्तान हिन्दू राज्य नहीं होगा, यह भारतीय राज्य होगा जो किसी एक धर्म को मानने वाले की बहुसंख्या पर आधारित नहीं होगा, बल्कि धार्मिक भेदभाव के बिना समस्त जनता के प्रतिनिधित्व पर आधारित होगा ।

जवाहर लाल नेहरू ने 'भारत आज और कल'[2] में इसी बात पर जोर देते हुये कहा कि भारत उन सभी का घर है जो यहां रहते हैं चाहे वे किसी भी धर्म के हों उनके अधिकार और दायित्व बराबर हैं । हमारा समाज मिला जुला समाज है और आधुनिक बहुधार्मिक समाज में व्यक्तिगत विश्वास तथा व्यक्तिगत आचरण का सम्मान किया जाना चाहिये । धर्म निरपेक्षता एक संघीय समाज का सिद्धान्त है जो सभी लोगों के कल्याण के लिये हैं । हम एक धर्मनिरपेक्ष राज्य का निर्माण करने जा रहे हैं जहां प्रत्येक धर्म को पूरी सुरक्षा और पूरा सम्मान मिलेगा तथा उसके नागरिकों को समान अधिकार तथा समान अवसर प्राप्त होंगे ।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि समान सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक न्याय, भाईचारा और व्यक्ति की गरिमा, धर्म, विश्वास और पूजा के मामले में स्वतंत्रता व

---

1. महात्मा गांधी - 9 अगस्त 1942 के भारत छोड़ों आन्दोलन के अवसर पर
2. जवाहर लाल नेहरू - "विश्व इतिहास की झलक"

धर्मनिरपेक्षतावाद की सकारात्मक घोषणा हमारे संविधान की प्रस्तावना में हैं ।

हमारे गतिशील संविधान में सकारात्मक और निषेधात्मक दोनों प्रकार का धर्मनिरपेक्षवाद है । कानून में भेदभाव का निषेध है और सबको समान संरक्षण देने की वचनबद्धता है । धर्म, जाति,लिंग, जन्म या धर्म इन सबके प्रति राज्य पूरी तरह उदासीन है ।[1]

जब कोई नागरिक अपने किसी अधिकार को अदालत सरकार या विधानमण्डल में लागू कराना चाहे तो कोई यह नहीं पूछ सकता कि वह किस धर्म का है । इसी प्रकार मूलभूत दायित्व [2] समान रूप से हिन्दू मुसलमान तथा अन्य सभी नागरिकों पर लागू होते हैं । इन बुनियादी राष्ट्रीय दायित्वों का स्वरूप धर्म निरपेक्षता के मूल्य को मजबूत करता है । उदाहरण स्वरूप- प्रत्येक नागरिक पर, चाहे वह किसी भी धर्म का हो, यह दायित्व सौंपा गया हैं कि धर्म से ऊपर उठकर सभी नागरिकों के बीच सद्भाव और भाईचारे की भावना को बढ़ाये ।[3] वह दूसरे के प्रति सहानुभूति का भाव[4] वैज्ञानिक दृष्टि मानवतावाद, जिज्ञासा और सुधार की भावना [5] अपने में उत्पन्न करें ।

---

1. Constituent Assembly debates, Vol. 7
2. अनुच्छेद 51 'क'
3. अनुच्छेद 51 'क' (ड)
4. अनुच्छेद 51 'क' (छ)
5. अनुच्छेद 51 'क' (ज)

इसके अतिरिक्त अनुच्छेद 38 में उल्लेखित न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था गतिशील धर्मनिरपेक्षवाद है जो सारे समाज पर लागू होता है जो धर्म, जाति विश्वास की किसी पूर्वाग्रह पूर्ण तथा विभाजक कसौटी को नहीं मानता और सभी मनुष्यों के मध्य एकता, उनके कल्याण तथा आर्थिक न्याय पर जोर देता है ।

अनुच्छेद 38 (1) में धर्म निरपेक्ष गणतंत्र के संवैधानिक सारतत्व को अपने अर्थपूर्ण उद्देश्य के साथ इस प्रकार व्यक्त किया गया है ।

'राज्य सभी नागरिकों के कल्याण को बढ़ावा देने के उद्देश्य से ऐसी सामाजिक व्यवस्था का यथासंभव रक्षण संरक्षण करेगा जिसमें राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं में नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय मिले ।'

राजकीय नीति-निर्देशक सिद्धान्तों में, जिसमें सशक्त समाजवादी पुट हैं, राज्य को आदेश दिया गया है कि वह समाजवादी और धर्मनिरपेक्ष नीतियां अपनाये और मानवीय न्याय की बातों पर बल दें ।[1] जैसे मुफ्त कानूनी सहायता, विकेन्द्रीकृत शासन, काम की न्यायपूर्ण और मानवीय स्थितियों, कमजोर वर्गो के आर्थिक और शैक्षिक हितों को बढ़ावा आम आदमी को स्वास्थ्य के मामलों में न्याय, कृषि और पशुपालन में सुधार, पर्यावरण प्रदूषण की समाप्ति और भौतिक उन्नति के कार्यक्रम । कहीं भी कोई ऐसा संकेत नहीं है कि राज्य विकास की गतिविधियों, मानव अधिकारों या जीवन और मृत्यु से संबंधित अन्य मामलों में किसी तरह का कोई भेदभाव करेगा या कर सकता है । अतः यह कहना अनुचित नहीं होगा कि धर्म निरपेक्षता के मूल्य राज्य की सभी

---

1. Fundamental Rights & Constitutional Remedies, Vol. I

गतिविधियों में नागरिक के संबंध में लागू होते हैं, भले ही उनके धर्म, विश्वास जो भी हों ।

समानता धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्र का बुनियादी आधार स्तम्भ है और भारतीय संविधान में इस समानता को निम्न रूपों में रेखांकित किया गया है ।

नागरिकता समानता-

इसका अभिप्राय यह है कि कानून के समक्ष सभी व्यक्ति समान होने चाहिये अर्थात कानून की दृष्टि में ऊंच-नीच, धनवान-निर्धन, धर्म और नस्ल इत्यादि के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जाना चाहिये । भारतीय संविधान में राज्य का यह कर्तव्य निर्दिष्ट किया गया है कि वह सभी व्यक्तियों को 'विधि के समक्ष समता' तथा 'विधि का समान' संरक्षणप्रदान करे ।[1] अर्थात राज्य पर यह बन्धन लगाया गया है कि वह सभी व्यक्तियों के लिये एक समान कानून बनायेगा तथा उन्हें एक समान लागू करेगा । धर्म जाति, लिंग व जन्मस्थान के आधार पर कानून किसी व्यक्ति को प्रश्रय नहीं देगा । पश्चिम बंगाल बनाम अनवर अली मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि 'समान परिस्थितियों में सभी व्यक्ति के साथ कानून का व्यवहार एक सा होना चाहिये । कानून के समक्ष समानता के अधिकार का यह नकारात्मक पहलू है । सकारात्मक पहलू के अन्तर्गत सभी व्यक्तियों को कानून का समान संरक्षण प्राप्त होगा । अपने अधिकारों के संरक्षण के लिये प्रत्येक व्यक्ति समान रूप से न्यायालय की शरण ले सकता है । किन्तु कानून के समक्ष समानता का अर्थ यह नहीं है कि राज्य किसी

---

1. भारतीय संविधान के अनुच्छे- 14

विशेष उद्देश्य से नागरिकों का उचित तथा तर्क संगत वर्गीकरण नहीं करेगा । अनुच्छेद 14 केवल राज्य द्वारा किये जाने वाले प्रभेद पर ही रोक लगाता है, व्यक्तियों के भेदपूर्ण व्यवहार पर नहीं । व्यक्ति के आचरण पर रोक लगाना व्यक्तिगत स्तंत्रता का अपहरण होगा । इस संबंध में सर्वोच्च न्यायालय ने एक महत्वपूर्ण निर्णय में केरल उच्च न्यायालय के निर्णय को रद्द करते हुये कहा कि प्रशासनिक दक्षता के संदर्भ में सरकारी सेवाओं में हरिजनों तथा अन्य पिछड़ी जातियों के लोगों के प्रति प्राथमिकतापूर्ण प्रतिनिधित्व और व्यवहार संविधानुकूल होना चाहिये तथा इसमें संविधान में निहित समानता का सिद्धान्त खण्डित नहीं होता तथा भारतीय संविधान में मान्य परिगणित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़ी जातियों का वर्गीकरण तर्कसंगत वर्गीकरण है और संविधान के अनुच्छेद-14 और 16 के अन्तर्गत समानता के सिद्धान्त के अनुकूल है ।[1]

सामाजिक समानता -

इसका अभिप्राय यह है कि जाति पाति रंग, नस्ल, धर्म और सम्पत्ति के आधार पर कोई भेदभाव न किया जाये और सबको समान अधिकार मिले । समता के अधिकार को सामाजिक रूप से सबको उपलब्ध बनाने के लिये संविधान के द्वारा अस्पृश्यता का अन्त कर दिया गया है, किसी भी रूप में उसका व्यवहार निषिद्ध कर दिया गया है और इसका उल्लंघन विधि के अनुसार दण्डनीय होगा ।[2] यह अधिकार लाखों भारतीयों को एक निर्योग्यता से छुटकारा दिलाता है । भारतीय समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग दासता एवं अपमान की त्रासदी को झेल रहा था । महात्मा गांधी ने

---

1. 'सर्वोच्च न्यायालय'- 'केरल सरकार बनाम एन.एस. थामस 22 सितम्बर, 1973.

2. Indian Constitution - Article- 17.

अछूतों के उद्वार के लिये कठिन लड़ाई लड़ी और संविधान निर्माताओं ने एक स्वर से छुआछूत को कानूनी तौर पर समाप्ति का समर्थन किया । इस सामाजिक कुरीति को संविधान द्वारा जड़मूल से विनष्ट कर देना आवश्यक था । अस्पृश्ता अपराध अधिनियम, 1955 के अवसर पर बोलते हुये गृहमंत्री ने कहा था कि छुआछूत का यह भयानक रोग हमारे समाज की रगों में घुस चुका है । यह न केवल हिन्दुत्व पर एक धब्बा है वरन् इसने ही समाज में असहिष्णुता और साम्प्रदायिकता जैसी पृथक्कारी प्रवृत्तियों को जन्म दिया है । यही हमारे समाज की अनेक बुराइयों की जड़ है । यह वस्तुतः आश्चर्यजनक है कि जो हिन्दू समाज अपनी उच्च्तम दार्शनिकता तथा जीव जन्तुओं के प्रति दयालुता के लिये विख्यात है, मानव को असल रूप से छोटा बनाकर गिराने का कार्य उसी ने किया है । यह छुआछूत शताब्दियों से चला आ रहा है । अब उस पाप का प्रायश्चित करने का समय आ गया है । छूआछूत का विचार हमारे संविधान के स्वरूप, भावना तथा उपबंधों के पूर्णतः विरूद्ध है ।[1]

संविधान ने विधिवत अस्पृश्यता का अन्त कर दिया है तथा संसद ने सविस्तार अस्पृश्यता सम्बन्धी अपराधों का उल्लेख किया और दण्ड की व्यवस्था भी की है । फिर भी भारतीय समाज में छुआछूत अभी भी विद्यमान है । जब तक कि इस संबंध में मनोवैज्ञानिक क्रांति नहीं लायी जायेगी तब तक कानून सफल नहीं हो सकता है । संकीर्णता को दूर करने के लिये विधि एक दुर्बल उपकरण है, केवल अधिनियम बनाकर इस सामाजिक कुरीति को दूर नहीं किया जा सकता है ।

एक नागरिक होने के नाते जो अधिकार सुविधायें एवं उन्मुक्तियां किसी व्यक्ति को प्राप्त होंगी उसके विषय में राज्य द्वारा कोई भेदभाव नहीं किया जायेगा ।

---

1. M.V. Pylee, 'Indian Constitution' P-215.

इस अनुच्छेद का महत्त्व इस बात में है कि यह धर्म, जाति, जन्मस्थान तथा लिंग के आधार पर किये जाने वाले भेदभाव को निषिद्व ठहराकर सदियों से फैली सामाजिक बुराई को दूर करता है, प्रान्तीयता की जड़े काटता है, एकल नागरिकता की पुर्नस्थापना के आदर्श की पूर्णता में सहायक सिद्ध होता है तथा राज्य एवं व्यक्ति द्वारा किये जाने वाले भेदभावों को रोकता है ।

राजनीतिक समानता-

राजनीतिक समानता से तात्पर्य है कि राज्य में प्रत्येक व्यक्ति को धर्म, जाति, नस्ल, शिक्षा इत्यादि भेदभाव के बिना मत देने का अधिकार होना चाहिये । इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को किसी भेदभाव के बिना राजनीतिक पद के लिये उम्मीदवार के रूप में खड़ा होने की स्वतंत्रता होनी चाहिये । भारत में व्यस्क मताधिकार के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति को किसी प्रकार के भेदभाव के बिना चुनावों में मत देने अथवा उम्मीदवार के रूप में खड़ा होने की व्यवस्था की गयी है ।

सरकार ने नया संविधान संशोधन विधेयक पारित कर मतदान की न्यूनतम आयु 21 वर्ष से घटाकर 18 वर्ष कर दी है । इस तरह से भारत विश्व के चालीस प्रजातांत्रिक राष्ट्रों में से वह छत्तीसवां देश बन गया, जहां मतदान की न्यूनतम आयु सीमा 18 वर्ष है ।[1]

इसी के साथ एक दूसरा विधेयक - जन प्रतिनिधित्व कानून (1951) संशोधन विधेयक 1988 भी पारित कर दिया गया । इस विधेयक में चुनाव के लिये

---

1. 15 दिसंबर, 1988 - 62 वां संविधान संशोधन विधेयक.

अयोग्य घोषित करने संबंधी धाराओं में महत्वपूर्ण संशोधन किये गये हैं । इसके अन्तर्गत-दहेज, सती जैसे सामाजिक अपराधों को पहले से ही दर्ज अपराधों की सूची में शामिल किया गया है । इन अपराधों के कारण दंडित व्यक्तियों को चुनाव लड़ने के लिये अयोग्य घोषित करने का प्रावधान है ।

धर्म,भाषा, क्षेत्र आदि के आधार पर वैमनस्य फैलाने वाले व्यक्तियों, आंतंकवादी कार्यवाहियों के लिये दंडित व्यक्ति को चुनाव लड़ने के लिये अयोग्य घोषित किया गया है । इन अपराधों के लिये दंडित व्यक्ति को 6 वर्ष तक चुनाव लड़ने से वंचित करने का प्रावधान है ।

अवसर और शिक्षा की समानता -

इसका अभिप्राय यह है कि राज्य को चाहिये कि नागरिकों को सभी क्षेत्रों में समान अवसर प्रदान करें क्योंकि तभी जनता का कल्याण हो सकता है । राज्य की दृष्टि में किसी प्रकार का कोई भेदभाव नहीं किया जाना चाहिये ।[1] अमीर-गरीब सभी को शिक्षा, नौकरी तथा अन्य क्षेत्रों में समान अवसर प्राप्त होने चाहिये, तभी देश का चर्तुमुखी विकास सम्भव हो सकेगा । भारतीय संविधान में यह प्रावधान किया गया है कि सभी नागरिकों को सरकारी पदों पर नियुक्ति के समान अवसर प्राप्त होंगे और इस संबंध में धर्म, मूलवंश, जाति लिंग, जन्मस्थान या इनमें से किसी के आधार पर सरकारी नौकरी या पद प्रदान करने में कोई भेदभाव नहीं किया जायेगा ।[2]

---

1. Dr. Radha Kumud Mukherji- 'Problems of Minorities'Foreign review-1980,P-84.

2. अनुच्छेद 16 'भारतीय संविधान'

यहां पर यह उल्लेख कर देना भी जरूरी है कि जब संविधान निर्मात्री सभा ने धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्तों को भारतीय संविधान में निहित किया तो उन्हें अनेक समझौते भी करने पड़े । उदाहरण स्वरूप जहां सभी व्यक्तियों को किसी भी धर्म को अपनाने, प्रचार व प्रसार करने की सुविधा प्रदान की गयी है वहीं राज्य को सार्वजनिक हित में इस संबंध में कानून बनाने का अधिकार भी दिया गया है । इसके अतिरिक्त संविधान में यह प्रावधान भी किया गया है कि राज्य राजकीय नौकरियों के लिये आवश्यक योग्यताऐं निर्धारित कर सकता है । तथा राज्य के द्वारा पिछड़े वर्गो, अनुसूचित जाति तथा जनजाति के लिये नौकरियों में स्थान आरक्षित किये जा सकते हैं । इन प्रावधानों को समानता के अधिकार में प्रतिबंध नहीं मानना चाहिये ।

भारतीय संवैधानिक प्रणाली की यह प्रमुख विशेषता कहीं जानी चाहिये कि इसमें अल्पसंख्यकों के हितों के संरक्षण का विशेष प्रावधान किया गया है, साथ ही साथ वे बहुसंख्यक समुदाय के समान विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक अधिकारों का उपयोग करते हैं । संविधान के द्वारा यह व्यवस्था की गयी है कि नागरिकों के प्रत्येक वर्ग को अपनी पृथक भाषा, लिपि या संस्कृति को सुरक्षित रखने का अधिकार है । केवल धर्म, वंश, जाति, भाषा या इनमें से किसी एक आधार पर राजकीय या राजकीय सहायता प्राप्त किसी भी शिक्षण संस्था में किसी नागरिक को प्रवेश से रोका नहीं जा सकता है ।[1] इसको अपर्याप्त समझते हुये तीसवें अनुच्छेद द्वारा यह भी जोड़ा गया है कि धर्म व भाषा पर आधारित सभी अल्पसंख्यक वर्गो को अपनी रूचि की शिक्षण संस्थाओं की स्थापना व उनके संचालन का अधिकार होगा तथा शिक्षा संस्थाओं को अनुदान देने में राज्य इस आधार पर कोई भेदभाव नहीं करेगा कि वे किसी धर्म व भाषा पर आधारित

---

1. Indian Constitution- Article 29.

अल्पसंख्यक वर्ग के अधीन हैं ।[1]

अल्पसंख्यकों के बारे में ये प्रावधान संविधान के अनुच्छेद 29 एवं 30 के द्वारा केवल स्पष्ट रूप से वर्णित ही नहीं है, वरन् विभिन्न प्रमुख विवादों में दिये गये न्यायिक निर्णयों द्वारा भारत में अल्पसंख्यकों की स्थिति को अधिक स्पष्ट भी किया गया है जिससे उन्हें इस देश में अपने हितों के बारे में कोई आशंका न रहे । अतः भारत ने जान स्टुअर्ट मिल जैसे महान प्रजातांत्रिक के इस प्रसिद्ध नियम को उचित सम्मान दिया है कि यह पूर्णतया निश्चित है कि अल्पसंख्यकों का वास्तविक निष्कासन स्वतंत्रता के लिये न तो आवश्यक है और न उसका आवश्यक परिणाम है । बल्कि यह प्रजातंत्र के मूल सिद्धान्तों के पूर्णतया विपरीत है ।[2]

राजनीतिक दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि अल्पसंख्यक का तात्पर्य मनुष्यों के एक ऐसे समुदाय से है जो अपनी प्रजाति या भाषा या धर्म के मामले में बहुसंख्यक लोगों से कम हो । किसी पूर्वाग्रह पूर्ण विचार का तत्व इस दिशा में अव्यवहारिक होगा । कुछ लोगों के समूह द्वारा अपने को अल्पसंख्यक मान लेने से ही वह अल्पसंख्यक नहीं हो जाते । इसके निर्माण में रूचि या इच्छा भी कोई कारण तत्व नहीं हो सकता । यद्यपि इस तत्व को पूर्णतया नकारा नहीं जा सकता । जैसे संयुक्तराज्य अमेरिका में नीग्रो लोगों के सम्बन्ध में है । यह आवश्यक है कि अल्पसंख्यक अपने पृथक अस्तित्व को सुरक्षित रखने के प्रति सजग रहें और बहुसंख्यकों से मिश्रित होने की कामना न करें । इसी कारण भारत के दलित वर्ग को न तो अल्पसंख्यक मानना चाहिये और न माना जा सकता है । क्योंकि वे अपनी विशेषताओं को जो शेष जनसंख्या

---

1. Indian Constitution- Article- 30.

2. J.S.Mill- Consideration on Representative Government, P-7.

से सर्वथा अलग है, सुरक्षित नहीं रखना चाहते हैं, वरन् वे बहुसंख्यक के साथ घुल मिल जाना चाहते हैं, यद्यपि बहुसंख्यक समूह के विरोधियों द्वारा वे ऐसा करने से रोके भी जाते हैं ।

अल्पसंख्यक की उपयुक्त परिभाषा देने में संविधान निर्माताओं को भी दुष्कर अनुभव हुआ जिन्होंने टी.टी. कृष्णामाचारी जैसे लोगों द्वारा सुझाये गये कुछ वर्गो के स्थान पर धर्म एवं भाषा के कारकों को प्रमुखता दी ।[1] अनुच्छेद 30 के अनुसार भारत में दो प्रकार के अल्पसंख्यक हैं जो धर्म व भाषा पर आधारित हैं । साथ ही अनुच्छेद 29 इन सभी के मौलिक अधिकारों जैसे विशिष्ट भाषा, लिपि या संस्कृति के संरक्षण और अपनी इच्छा की शैक्षणिक संस्थाओं की स्थापना व प्रशासन के सम्बन्ध में पूर्ण सुरक्षा देता है ।

भारत में क्षेत्रीय अल्पसंख्यकों की धारणा का चलन तब आरम्भ हुआ जब एक महत्वपूर्ण मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि अनुच्छेद 29 के अनुसार एक राज्य के नागरिक समूह को अल्पसंख्यक निर्धारित करने में राज्य की सम्पूर्ण जनसंख्या का संदर्भ अपेक्षित है ।[2] इससे पहले अपना परामर्श निर्णय देते हुये सर्वोच्च न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि अनुच्छेद 30 में प्रयुक्त अल्पसंख्यक शब्द का आशय एक ऐसे समुदाय से है जो संख्या के हिसाब से राज्य की सम्पूर्ण जनसंख्या का 50% से कम हो । इस अनुच्छेद के अनुसार यदि किसी राज्य के एक विशेष भाग में कोई समुदाय अल्पसंख्यक है किन्तु राज्य की सम्पूर्ण जनसुख्या में बहुसंख्यक है तो उसे अल्पसंख्यक नहीं गिना जायेगा । देश की सम्पूर्ण जनसंख्या के आधार पर भी

---

1. Constituent Assembly Debates, November 6,1949, P- 571.
2. D.A.V. College of Jalandhar V. The State of Punjab, 1971.

अल्पसंख्यक नहीं निर्धारित किये जा सकते हैं ।[1]

क्षेत्रीय अल्पसंख्यकों की धारणा की उपर्युक्त व्याख्याओं पर गंभीर आपत्तियां उठायी जाती है । किसी राज्य में जनसंख्या का फैलाव इस तरह से हो सकता है कि किसी भी वर्ग के पास पूर्ण जनसंख्या का 50% बहुमत न हो । इस तरह सभी वर्ग सुविधाओं को पाने की आकांक्षा से अपने को अल्पसंख्यक स्तर घोषित करने की मांग करने लगेंगे । ऐसा भी हो सकता है कि कोई वर्ग समूह एक राज्य में अल्पसंख्य हो किन्तु दूसरे राज्य में बहुसंख्यक बन जाये ।। अतः ऐसे समुदाय इस द्वैध स्तर के नियम से अनुचित लाभ उठाने लगेंगे जिससे देश के राजनैतिक मानचित्र में भारी हेरफेर की सम्भावनाएं बढ़ जायेगी । अतः उचित यही है कि इस धारणा को जितना शीघ्र हो समाप्त कर दिया जाये तथा कोई अल्पसंख्यक वर्ग देश की जनसंख्या के संदर्भ में ही निर्धारित किया जाये ।

वास्तव में संविधान के तृतीय भाग में महत्वपूर्ण अधिकार जोड़ते समय हमारे संविधान निर्माताओं के ध्यान में यह महत्वपूर्ण तथ्य अवश्य था कि उन अल्पसंख्यकों की स्थिति को कैसे सुरक्षित किया जाये जो बहुसंख्यकों के सम्भावित निरंकुश शासन से अपने को असहाय समझते थे तथा असुरक्षा के कारण भयभीत रहते थे । वे यह भी जानते थे कि स्वतंत्र लोकतंत्र में अल्पसंख्यकों की संस्कृति, धर्म व अन्य हितों का संरक्षण अनिवार्य है और वह केवल व्यक्ति के लिये लिखित अधिकारों को प्रत्याभूत करने से ही सम्भव हो सकता है ।[2]

---

1. Shukla, See- Commentary of the Constitution of India, Ed. VI of 1975. P - 134
2. K.P. Krishna Shetty- Fundamental Rights and the Socio-Economic Justice in the Indian Constitution, P-18.

संविधान के तृतीय भाग में प्रत्याभूत महत्वपूर्ण अधिकारों[1] के अतिरिक्त उनके अर्थ व क्षेत्र का विस्तार न्यायिक निर्णयों द्वारा भी किया गया है । उदाहरण स्वरूप सर्वोच्च न्यायालय ने एक मामले में निर्णय दिया कि अल्पसंख्यकों को केवल अपनी भाषा व लिपि के अधिरक्षण व संरक्षण का ही अधिकार नहीं है वरन् इसके लिये वे आन्दोलन भी कर सकते हैं । न्यायाधीश जे.सी. शाह ने कहा कि 'नागरिकों को अपनी भाषा के संरक्षण के अधिकार में ही अपनी भाषा के रक्षण हेतु आन्दोलन करने का अधिकार भी निहित है ।[2]

वास्तव में अल्पसंख्यकों का अपनी इच्छानुसार . शिक्षण संस्थाओं की स्थापना व प्रशासन करने का अधिकार' अपनी भाषा, लिपि या संस्कृति को संरक्षित करने के अधिकारों का स्वाभाविक परिणाम है जिसे सर्वोच्च न्यायालय ने 'एक आवश्यक समयोग' बताया । यह सुविधा केवल संविधान लागू होने के बाद स्थापित शैक्षणिक संस्थाओं के लिये ही सीमित नहीं है । यह संविधान पूर्व व संविधान के बाद स्थापित होने वाली संस्थाओं के लिये भी लागू होती हैं । एक महत्वपूर्ण मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि विश्वविद्यालय किसी निजी महाविद्यालय की प्रबंध समिति में अपने प्रतिनिधि नहीं मनोनीत कर सकता क्योंकि इसे अल्पसंख्यकों के प्रशासन करने के अधिकार में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप माना जायेगा ।[3]

---

1. Indian Constitution- Article 29, 30.
2. Jagdev Singh Sidhanti V. Pratap Singh Daulata, AIR 1965 SC. 183.
3. Ahamadabad St. Xavier's College Society, V. The State of Gujarat- 1974.

इस संदर्भ में संविधान के प्रावधानों और सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों को इस रूप में नहीं लिया जा सकता कि अल्पसंख्यकों के उपर्युक्त अधिकार प्रतिबन्धों से परे हैं । राज्य राष्ट्रीय या लोकहित में उन पर औचित्यपूर्ण प्रतिबंध लगा सकता है । यहां यह भी स्पष्ट करना जरूरी है कि जो संस्थाऐं अनुच्छेद 30 के अनुसार संरक्षण का दावा करती है, उन्हें राज्य द्वारा नहीं बल्कि अल्पसंख्यक समुदाय द्वारा स्थापित होना चाहिये । इसीलिये भारत सरकार अलीगढ़, मुस्लिम विश्वविद्यालय को जो भारत सरकार अधिनियम 1920 द्वारा प्रस्थापित किया गया है को मुस्लिम अल्पसंख्यक समुदाय द्वारा स्थापित तथा प्रशासित करने का दावा स्वीकार नहीं कर सकती ।

अल्पसंख्यकों को प्रदत्त संवैधानिक संरक्षण का लेखा हमारे मानवीय धर्म निरपेक्षता को दृढता के साथ प्रदर्शित करता है । यही नहीं संविधान के इन महत्वपूर्ण उपबन्धों ने बहुमत दल के नेताओं की उदारता व उनके विवेक सम्मत दृष्टिकोण का भी परिचय दिया है । दिसम्बर 1946 को संविधान सभा में उद्देश्य प्रस्तावों को प्रस्तुत करते हुये पंडित जवाहर लाल नेहरू ने जब यह कहा कि 'अब अल्पसंख्यकों पिछड़ी वन्य जातियों, दलितों और अन्य पिछड़े वर्गो को पर्याप्त रूप से संरक्षण प्रदान किया जायेगा' तो सभी ने उनकी बहुत प्रशंसा की ।

इन सबके बावजूद हमको यह नहीं भूलना चाहिये कि उपरोक्त संरक्षण निहित स्वार्थो को उकसा सकते हैं जिससे राष्ट्रीय व लोकहित के लिये खतरा उत्पन्न हो सकता है । उदाहरण स्वरूप- अपनी इच्छा की शिक्षा संस्थाओं के संचालन व प्रशासन के नाम पर अल्पसंख्यक अशान्ति उत्पन्न कर सकते हैं । अतः यह आवश्यक है कि अल्पसंख्यक भी अपने अधिकारों के प्रयोग में उतनी तत्परता व विवेकसम्मत दृष्टिकोण का परिचय दे जितना बहुसंख्यक समुदाय ने संविधान में उनको गारंटी देकर न्यायालयों ने अपने निर्णयों द्वारा दिया है । पिछले लगभग तीस वर्षो में अल्पसंख्यकों को मिले संरक्षण तथा उनके वास्तविक क्रियान्वयन के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में अल्पसंख्यकों को अपने हितों व सुरक्षा के लिये संदेह करने का कोई कारण नहीं है ।[1]

आर्थिक समानता -

आर्थिक समानता का आशय यह नहीं है कि सभी व्यक्तियों की आय या वेतन समान हो बल्कि इसका अभिप्राय यह है कि समाज में आर्थिक विषमता कम से कम रहे, जहां तक संभव हो सके लोगों की आय और जीवन स्तर में ज्यादा अन्तर न रहे । यह तभी संभव है जब पूँजीवाद का विनाश हो और समाजवाद की स्थापना हो । आर्थिक समानता तभी स्थापित हो सकती है जब सबको आर्थिक सुरक्षा प्राप्त हो,

---

1. Constituent Assembly Debates, Vol-I,P-91-92.

इसके लिये सरकार को बेरोजगारी दूर करनी चाहिये, सबको काम देना चाहिये तथा सबके सामान्य जीवन स्तर का प्रबंध करना चाहिये ।

यद्यपि भारतीय संविधान में काम के अधिकार को मूल अधिकार के अंतर्गत सम्मिलित नहीं किया गया है किन्तु संविधान निर्माता उन तथ्यों के प्रति उदासीन नहीं थे जिनसे आर्थिक समानता स्थापित होती है इसलिये उन्होंने इन अधिकारों को उन नीति निदेशक तत्वों में स्थान दिया है जिन्हें लागू करना शासकों का परम कर्तव्य समझा जाता है । भारतीय संविधान में वर्णित मौलिक अधिकार सामाजिक न्याय और धर्मनिरपेक्षता की भावना को सबल बनाते हैं ।

धार्मिक स्वतंत्रता-

धर्म निरपेक्षता का आदर्श धर्म को व्यक्ति के आन्तरिक विश्वास की वस्तु मानता है । अतः संविधान में यह व्यवस्था की गयी है कि सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य तथा इस भाग के दूसरे उपबन्धों के अधीन रहते हुये सभी व्यक्तियों को अन्तःकरण की स्वतन्त्रता अर्थात किसी भी धर्म का पालन करने, प्रचार एवं प्रसार करने का अधिकार होगा ।[1] भारतीय धर्मनिरपेक्षतावाद के सिद्धान्त में लोगों की बढ़ती सामाजिक व नैतिक जागरूकता के अनुसार परिवर्तन होना चाहिये तथा यह निर्धारित करने का अधिकार न्यायपालिका पर छोड़ दिया गया है कि वह देखे कि राज्य द्वारा अनुच्छेद पच्चीस के अनुसार आत्मा की स्वतंत्रता पर जो प्रतिबन्ध लगाये गये हैं वे संविधान में निहित धर्म निरपेक्ष धारणा के अनुकूल हैं या नहीं ।[2] यह अनुच्छेद भारत

---

1. Indian Constitution, Article- 25.

2. Commentary on the Constitution of India, Vo;.I by Basu. P - 150

में एक धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना करता है । राज्य किसी भी धर्म विशेष का पक्ष नहीं लेगा न उसे कोई विशेष सुविधा प्रदान करेगा । प्रत्येक व्यक्ति किसी भी धर्म को स्वीकार करने अनुसरण एवं प्रचार करने के लिये स्वतन्त्र होगा । डॉ. राधाकृष्णन ने भारतीय राज्य के धर्म निरपेक्ष स्वरूप पर प्रकाश डालते हुये कहा कि भारतीय राज्य न तो किसी धर्म द्वारा नियन्त्रित होगा और न किसी धर्म विशेष से संबंधित होगा । हम किसी एक धर्म को वरीयता का स्थान या अद्वितीय स्तर प्रदान करना नहीं चाहते । किसी एक धर्म को राष्ट्रीय जीवन में अथवा अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्कों में विशेष सुविधाऐं प्राप्त नहीं होगी ।[1] ऐसा करना लोकतंत्र के आधारभूत सिद्धान्तों पर कुठाराघात करना होगा तथा राज्य के हितों के विरूद्ध होगा, नागरिकों के किसी एक समूह को कोई ऐसे अधिकार एवं सुविधाऐं प्राप्त नहीं होगी जो दूसरों के लिये निषिद्ध हों । कोई भी व्यक्ति किसी धर्म का अनुसरण करने के कारण किसी प्रकार की अशक्तता या भेदभाव का पात्र नहीं माना जायेगा । सार्वजनिक जीवन के सुख का उपयोग करने के लिये सभी व्यक्ति समान होंगे ।[2] धर्म को राज्य से पृथक रखने में यही मूल सिद्धान्त है किन्तु इस आधार तक अन्तःकरण के स्वतंत्रत प्रयोग द्वारा धर्म परिवर्तन की आज्ञा होगी ।[3]

किन्तु वर्तमान समय में धार्मिक स्तंत्रता पर प्रतिबन्धों की आवश्यकता सर्वमान्य है । भारतीय संविधान में धार्मिक स्वतंत्रता पर लगाये गये प्रतिबन्धों को दो वर्गो में रखकर देखा जा सकता है ।

---

1. Dr. Vishwanath B. Prasad- Gandhi & Religion. P - 48
2. Chitley- COnstitution of India. P - 73
3. D.N. Banerji - 'Our Fundamental Rights'- P- 273.

अनुच्छेद 25 के अनुसार धार्मिक स्वतंत्रता का उपयोग सार्वजनिक व्यवस्था, नैतिकता तथा स्वास्थ्य के हितों के अन्तर्गत किया जा सकता है । 'मुहम्मद सिद्धीकी बनाम उत्तर प्रदेश राज्य' नामक मुकदमें में पुलिस कमिश्नर ने दिन में पांच बार लाउडस्पीकर द्वारा अजान पढ़ने के लिये आज्ञा नहीं दी । न्यायालय ने कमिश्नर के आदेश को अनुच्छेद 25 के अन्तर्गत वैध माना ।

अनुच्छेद 25 के अनुसार धार्मिक स्वतंत्रता राज्य द्वारा उठाये गये समाज सुधार के कदमों में बाधा नहीं डालेगी । राज्य को यह अधिकार दिया गया है कि वह धार्मिक आचरण से संबंधित किसी आर्थिक, राजनीतिक अथवा अन्य किसी प्रकार की लौकिक क्रियाओं का विनियमन करें । राज्य सामाजिक कल्याण और सुधार की व्यवस्था कर सकता है तथा हिन्दुओं के सार्वजनिक धर्म व्यवस्था, स्वास्थ्य एवं नैतिकता को ध्यान में रखते हुये अपने विवेक एवं अन्तःकरण के अनुकूल धार्मिक आस्था रखने की स्वतंत्रता प्रदान करता है साथ ही अपने विश्वासों को बाह्य कृत्यों द्वारा प्रदर्शित करने का तथा दूसरों के लाभ के लिये अपने विचारों का प्रचार एवं प्रसार करने का भी अधिकार प्रदान करता है ।[1]

यहां यह भी उल्लेख कर देना जरूरी है कि संविधान सभा में कई सदस्यों ने 'प्रचार' शब्द के प्रयोग का विरोध किया । उनका कहनाथा कि इसको प्रदान करने से इसका उपयोग सामूहिक रूप से धर्म परिवर्तन करने के लिये किया जा सकता है । किन्तु अधिकांश सदस्यों ने इसका समर्थन किया । क्योंकि 'प्रचार' अभिव्यक्ति स्वतंत्रता का एक प्रमुख साधन है किन्तु अगर सत्य कहा जाये तो इस 'शब्द' को संविधान

---

1. Indian Constitution - Article 25.

में कुछ ईसाइयों को सन्तुष्ट करने के लिये रखा गया है क्योंकि वे अपने धर्म के प्रचार में विश्वास रखते हैं, यदि उनके प्रचार के फलस्वरूप स्वेच्छा से कोई व्यक्ति अपना धर्म परिवर्तन कर लेता है तो राज्य उसके मार्ग में बाधा नहीं बनेगा । डी.एन. बनर्जी ने लिखा है कि जब तक धर्म एक धर्म है तब तक भारतीय राज्य को धर्म विरोधी अथवा नास्तिक नहीं कहा जा सकता है ।

डॉ. एम.वी. पायली ने धर्मनिरपेक्षता के इस प्रावधान की व्याख्या इस प्रकार की है-

1. राज्य किसी भी धर्म के साथ अपना समीकरण नहीं करेगा और न ही किसी धर्म के द्वारा नियन्त्रित होगा ।

2. राज्य प्रत्येक व्यक्ति को इच्छानुसार धर्म का अनुसरण करने का अधिकार प्रदान करेगा जिसमें नास्तिकता तथा ईश्वर को अज्ञेय मानने का अधिकार भी सम्मिलित है । किन्तु किसी एक धर्म के अनुयायियों को दूसरे से श्रेष्ठ नहीं मानेगा और न उन्हें कोई विशेष अधिकार देगा ।

3. राज्य किसी व्यक्ति के साथ उसके धार्मिक विचारों के कारण भेदभाव नहीं करेगा ।

4. प्रत्येक नागरिक को निर्धारित शर्तों के साथ राज्य के अधीन किसी भी सेवा में प्रवेश पाने का समान अधिकार होगा ।[1]

---

1. M.V. Pylee, 'The Indian Constitution, P- 272.

सर्वोच्च न्यायालय ने हिन्दू धार्मिक धर्मादास आयुक्त बनाम एल.टी. स्वामियर[1] नामक मुकदमे में धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकार की व्याख्या इन शब्दों में की -अनुच्छेद पच्चीस प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक संस्थाओं को हिन्दूओं के सभी वर्गो और श्रेणियों के लिये खोल सकता है । इस संदर्भ में सिखों द्वारा कृपाण धारण करना उनकी धार्मिक स्वतंत्रता का अंग माना गया है ।

धार्मिक मामलों का प्रबंध करने की स्वतन्त्रता

अनुच्छेद 26 के द्वारा प्रत्येक धर्म के अनुयायियों को धार्मिक व दानदात्री संस्थाओं की स्थापना उनके संचालन तथा धर्म के मामलों में स्वयं प्रबंध, धार्मिक संस्थाओं द्वारा चल अचल सम्पत्ति के अर्जन तथा विधि के अनुसार उसके प्रबंध का अधिकार प्रदान किया गया है ।[2]

वस्तुतः धार्मिक संस्थाओं की स्थापना तथा उनकी व्यवस्था करने के अधिकार के अभाव में धार्मिक स्वतंत्रता एक माखौल हो जायेगी, व्यर्थ की चीज हो जायेगी । विधान मण्डल को धार्मिक संस्थाओं के मामले में तब तक हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है जब तक कि वे सार्वजनिक व्यवस्था, नैतिकता तथा स्वास्थ्य के मार्ग में बाधक सिद्ध नहीं होते हैं ।

---

1. The Commissioner of Hindu Religions, Endownment V. L.T. Swamiar.
2. Indian Constitution - Article 26.

धर्म विशेष की समृद्धि के लिये कर देने की स्वतंत्रता-

संविधान के अनुच्छेद 27 के द्वारा यह व्यवस्था की गयी है कि धर्म विशेष की वृद्धि के लिये प्रयोग किये जाने वाले किसी कर को देने के लिये किसी व्यक्ति को बाध्य नहीं किया जा सकेगा ।[1] इस व्यवस्था द्वारा जाजिया जैसे कर लगाये जाने को निषिद्ध कर दिया गया है ।

धार्मिक शिक्षा का विरोध-

धर्म निरपेक्षता के आदर्श के अनुरूप संविधान की धारा 28 में यह व्यवस्था की गयी है कि राजकीय शिक्षण संस्थाओं में किसी प्रकार की धार्मिक शिक्षा नहीं दी जायेगी तथा इसके साथ ही साथ राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त या आर्थिक सहायता प्राप्त शिक्षण संस्था में किसी व्यक्ति को किसी धर्म विशेष की शिक्षा ग्रहण करने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकेगा ।[2]

इस अनुच्छेद का उद्देश्य समाज को धर्म के नाम पर होने वाले शोषण से बचाना था तथा नागरिकों को सच्चे अर्थो में धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान करनी थी । धार्मिक स्वतंत्रता से संबंधित कुछ उपबन्धों की व्याख्या से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है यद्यपि राज्य पूर्णतः धार्मिक निष्पक्षता का व्यवहार करेगा किन्तु साथ ही समाजसुधार के लिये वह कोई भी कदम उठा सकता है तथा सार्वजनिक व्यवस्था, स्वास्थ्य एवं नैतिकता के उद्देश्य से धार्मिक स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगा सकता है ।

---

1. अनुच्छेद 27 'भारतीय संविधान'
2. अनुच्छेद 28 'भारतीय संविधान'

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारतीय धर्म निरपेक्षतावाद एक जड़ नहीं वरन् गतिशील अवधारणा है । यह एक विवेक सम्मत विचार है जिसके अनुसार राजनीति में धार्मिक हस्तक्षेप की तो मनाही है किन्तु सामाजिक कल्याण के नाम पर राज्य धर्म में हस्तक्षेप कर सकता है । भारत के एक लोक कल्याण कारी राज्य होने के कारण संविधान ने राज्य को जनहित में आवश्यक विधायन करने के लिये अधिकृत किया है चाहे इससे किसी धर्म या सम्प्रदाय के पारस्परिक सिद्धान्तों का हनन हो । अतः राज्य किसी भी सम्प्रदाय के निजी कानूनों में परिवर्तन कर सकता है । वह किसी सम्प्रदाय की ऐसी परिभाषा कर सकता है जिसे कुछ लोग न चाहे । उदाहरण के लिये जबकि सिख व बौद्ध मतावलम्बी अपने को अलग धर्म वाला मानसकते हैं, पर सभी 'हिन्दू' माने जाते हैं और वे राज्य द्वारा हिन्दू लोगों के लिये बनाये गये कानून के अधीन भी है इसी कारण अनुच्छेद 25 में विशेष रूप से धारा 2 जोड़ी गयी है जिसमें कहा गया है कि अनुच्छेद की कोई बात किसी ऐसे वर्तमान कानून लागू होने पर प्रभाव डालने अथवा बनाने पर रूकावट न डालेगी जो धार्मिक आचरण से सम्बद्ध किसी आर्थिक राजनैतिक व अन्य किसी प्रकार की लौकिक क्रियाओं का नियमन या निषेध करती हो, अथवा सामाजिक कल्याण व सुधार की व्यवस्था या हिन्दुओं की सार्वजनिक धर्म संस्थाओं को हिन्दुओं के सभी वर्गो और विभागों के लिये खोलती हो ।

संविधान लागू होने के साथ ही भारत सरकार ने देश के मूल विधान में निहित धर्मनिरपेक्षता की धारण को क्रियान्वित करने के लिये बहुत कुछ कार्य किया है । जहां तक हिन्दू सम्प्रदाय का संबंध है, सरकार ने विवादास्पद हिन्दू संहिता विधेयक (Hindu Code Bill)को वापस लेने के बाद विवाह, तलाक तथा उत्तराधिकार सम्बन्धी मामलों के लिये महत्वपूर्ण विधायन किया है । उदाहरणस्वरूप हिन्दुओं के कानूनों में आमूल परिवर्तन किये गये हैं । सरकार ने मुस्लिम समाज में सुधारों का कार्य

नहीं किया । उसने यह निर्णय लिया कि जब तक उस (मुस्लिम) समाज की ओर से ऐसी मांग नहीं आती, सुधार करना उचित नहीं होगा । सरदार सैय्यदना ताहिर सैफद्दीन साहब बनाम बम्बई राज्य [1] के मामले में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय की प्रशंसा करनी होगी जिसमें कहा गया है कि जब तक दोनों बहुसंख्यक व अल्पसंख्यक समुदाय के लोग इस प्रकार के समाज कल्याण व सुधारों के विधेयक के लिये सहमत नहीं होते, किसी धार्मिक आचरणों के नियंत्रण व सुधारों की व्यवस्था वैधानिक नहीं होगी।

1985 में सुप्रीम कोर्ट ने शाहबानों केस में यह निर्णय दिया कि मुस्लिम महिला अपने पति से तलाक पाने के बाद भारतीय फौजदारी प्रक्रिया अधिनियम की धारा 125 के अनुसार गुजर बसर के लिये आर्थिक सहायता ले सकती है । देश के कट्टर मुसलमानों ने इसे अपने धर्म में हस्तक्षेप कहकर इस निर्णय का विरोध किया । 1986 में भारत सरकार ने एक कानून बनाया जिसमें कहा गया है कि तलाकशुदा मुस्लिम महिला अपने भरण-पोषण के लिये उस व्यक्ति से आर्थिक सहायता ले सकेगी जिसके मरने के पश्चात् उसकी सम्पति मिलेगी और यदि उसकी कोई सम्पति नहीं है तो वह मुस्लिम वक्फ बोर्ड या किसी अन्य संस्था से सहायता ले सकेगी । देश के सभी वर्गों ने प्रधानमंत्री श्री राजीव गांधी के इस कार्य की निन्दा की । इसी के विरोध में एक मंत्री आरिफ मुहम्मद खां ने त्यागपत्र भी दिया ।

भारतीय धर्म निरपेक्षतावाद धर्म को राजनीति से पृथक ही नहीं करता है वरन् साम्प्रदायिकता का सामना करने के लिये वह आगे भी बढ़ा है । इसीलिये भारतीय संविधान के अनुच्छेद 17 के द्वारा किसी भी प्रकार से अस्पृश्यता के पालन पर पाबंदी

---

1. सैय्यदना ताहिर सैफुद्दीन साहब बनाम बम्बई राज्य' (1962)

लगी है । इसी उपबन्ध को और अधिक प्रभावी बनाने के लिये 1955 में सरकार द्वारा अस्पृश्यता अपराध अधिनियम बनाया गया । यद्यपि संविधान या किसी अधिनियम में कहीं भी अस्पृश्यता शब्द की व्याख्या नहीं कि गयी है, फिर भी सामान्य तौर पर इस शब्द का आशय ऐसी सामाजिक परम्परा से है जिसमें कुछ दलित वर्गो को उनके जन्म के आधार पर नीचा देखा जाता है और उन्हें तथाकथित ऊंची जातियों या वर्गो से किसी प्रकार का संबंध रखने से वंचित किया जाता है । इस अधिनियम के अन्तर्गत अस्पृश्यता का व्यवहार निम्न स्थितियों में माना जाता है । जैसे सार्वजनिक संस्थाओं में किसी के प्रवेश पर निषेध, सार्वजनिक पूजा गृहों में किसी को पूजा से रोकना और किसी व्यक्ति को किसी दुकान, सार्वजनिक भोजनालय, होटल या मनोरंजन केन्द्र में जाने से रोकना । इस कानून के अनुसार अस्पृश्यता को एक दण्डनीय अपराध घोषित किया गया है ।

इस गतिशील धर्मनिरपेक्षवादी व्यवस्था के कारण हमारे देश में न केवल सार्वजनिक संस्थाओं में प्रवेश के लिये पिछड़े व दलित वर्गो के लोगों के लिये विशेष स्थान सुरक्षित रखा जाता है वरन् सार्वजनिक नौकरियों व निर्वाचन में भी स्थान सुरक्षित कर दिये जाते हैं । हमारे देश में कमजोर वर्गो के विकास के लिये विशेष सुविधाऐं दी जाती है । केन्द्रीय व राज्यों के मंत्रिमण्डलों में अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व दिया जाता है । हमारे देश की व्यवस्थापिका सभाओं व न्यायिक संस्थाओं में भी इसी प्रवृत्ति का पालन होता है । 1967 में भारत के राष्ट्रपति पद पर डॉ. जाकिर हुसैन का निर्वाचन भारत में धर्म निरपेक्षता की विजय मानी गयी । इस परिप्रेक्ष्य से विचार करने पर भारत सरकार पर लगाये जाने वाले ये आरोप किसी शरारती दिमाग की उपज हो सकते हैं कि मुसलमान यहां 'द्वितीय स्तर' के नागरिक माने जाते हैं या 'उनकी इज्जत जीवन और सम्मान असुरक्षित है,' या 'हिन्दू बहुल भारत सरकार द्वारा योजनाबद्ध तरीके

से उनके प्रति विभेद किया जाता है ।' (उपरोक्त आरोप जो जून 1961 में होने वाले मुस्लिम सम्मेलन में लगाये गये थे) शरारतपूर्ण व पूर्णतया अनुपयुक्त हैं । यदि हम संविधान के लागू होने के समय से भारत सरकार की इस दिशा में की गयी गतिविधियों का गंभीरता से अध्ययन करें ।[1] भारत में अमेरिका के राजदूत एवं तटस्थ विचार वाले चेस्टर बाउल्स ने बड़े स्पष्ट शब्दों में नेहरू द्वारा भारत को दिये गये महत्वपूर्ण योगदान के संदर्भ में यह कहा कि नेहरू ने एक ऐसे राज्य का निर्माण किया है जिसमें 450 लाख मुसलमान जिन्होंने पाकिस्तान जाना पसंद नहीं किया, शान्तिपूर्ण ढंग से रह रहे हैं और अपनी इच्छा से उपासना कर रहे हैं ।[2]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सरकार सामाजिक न्याय और धर्मनिरपेक्षता के प्रति समान रूप से सजग हैं । स्मिथ ने लिखा है कि 'स्वतंत्र भारत की सरकार देश के इतिहास में प्रथम संस्था है जिसने अस्पृश्यता के विरूद्ध पूरा युद्ध छेड़ा हैं '।[3] यह महात्मा गांधी के कार्यो का परिणाम था जिन्होंने जीवन का एक बड़ा भाग हरिजनों और निम्न वर्गो के उत्थान में लगाया वैसे इस दिशा में स्वामी दयानंद, राजा राममोहन राय, स्वामी विवेकानंद, तिलक आदि सभी राष्ट्रीय नेताओं ने इस सामाजिक कलंक को मिटाकर सामाजिक न्याय और धर्म निरपेक्षता के लिये मार्ग प्रशस्त किया ।

इन सभी उपबंधों व तथ्यों से यह नितान्त स्पष्ट है कि भारत एक धर्म निरपेक्ष राज्य है धर्म विरोधी राज्य नहीं । भारत में वयस्क मताधिकार के आधार पर होने वाले चुनावों में धर्म की भूमिका का पूर्ण निषेध है और यह धर्म निरपेक्ष राजनीति

---

1. A paper of Dr. Rasheeduddin Khan in seminar (New Delho), February 1974.
2. Chester Bowles- Ambassador's Report.
3. D.E. Smith- India is a Secular State, P-306.

....

का प्रतीक है । सार्वजनिक पद के लिये कोई धार्मिक योग्यता संविधान में मान्य नहीं है । धर्म के आधार पर बने किसी राजनैतिक दल, धर्म के नाम पर मतदाताओं से की गयी अपील और धार्मिक घुसपैठ से मतदान की प्रक्रिया के प्रदूषण को संविधान की स्वीकृति नहीं है । एक व्यक्ति, एक मूल्य, एक वयस्क, एक मत यही है कानून का शासन जिस पर धर्मनिरपेक्षता की छाप है ।[1] भारत के विधानमंडल अपने गठन, कार्य और बनाये जाने वाले कानून में इन धर्म निरपेक्ष आदेशों का पालन करने के लिये प्रतिबद्ध है । अगर वे ऐसा नहीं करते तो इसे संविधान का उल्लघंन समझा जाता है । अध्यक्ष या सभापति किसी धर्म वाले के साथ पक्षपात नहीं कर सकते हैं और न ही संसद धार्मिक पक्षपात वाला कानून बना सकती है । इसी प्रकार कार्यपालिका, राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री से लेकर पंचायत के चपरासी और अंतिम स्तर के सरकारी कर्मचारी तक सबको जाति निरपेक्ष और धर्म निरपेक्ष होना जरूरी है । सरकारी कर्मचारियों का चुनाव करने वाला लोक सेवा आयोग भी धर्मनिरपेक्ष संस्थाएं होती है । शरीयत, वेद ईसाई कानून की सर्वोपरिता, पादरियों का न्यायालय, धार्मिक या कुरान की अदालत, धर्म पुरोहितों की धार्मिक आधार पर न्यायधीश के पदों पर नियुक्ति देश के 83% हिन्दुओं, 11 प्रतिशत मुसलमानों, 2.5 प्रतिशत ईसाईयों, 2 प्रतिशत सिखों तथा अन्य धर्मावलम्वियों के प्रति शैतानी असंवैधानिक व्यवहार होगा । हमारा संविधान फिरकापरस्ती के साधनों को हिकारत से देखता है, इस्लामीकरण को घृणित वस्तु मानता है । अतः यह कहा जा सकता है कि कानून तथा जीवन में भारत धर्म निरपेक्षता का अद्भुत नरवलिस्तान है ।

वास्तव में राष्ट्रीय एकता के संदर्भ में धर्म निरपेक्षता को रखकर जब हम विचार करते हैं तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारत जैसे विशाल देश में धर्म निरपेक्षता न केवल आवश्यक और उपयोगी है, बल्कि सही मायने में इसका कोई दूसरा

---

1. Justice Rama Swamy of the Patna High Court- INdian Law Review, Vol. 13.

विकल्प सम्भव ही नहीं है । भारतवर्ष की विविधता में अन्तर्निहित जिस एकता के स्वरूप का वर्णन करते हुये हम कभी नहीं थकते उस वैविध्य में पनपने वाली एकता की रक्षा धर्म निरपेक्षता के अतिरिक्त किसी दूसरी नीति या दर्शन से सम्भव ही नहीं है । अतः धर्मनिरपेक्षता का आदर्श ही भारत के लिये नितान्त औचित्यपूर्ण है ।

व्यवहार में भी भारत ने सदैव ही धर्मनिरपेक्षता के आदर्श को अपनाया है । हिन्दू बहुल राष्ट्र होते हुये भी इसने सभी धर्मो का सम्मान किया है । उदाहरणस्वरूप सन् 1956 में दिल्ली में आयोजित बौद्ध धर्म सम्मेलन और 1964 में बम्बई में आयोजित ईसाई धर्म सम्मेलन को सफल बनाने के लिये भारत सरकार ने वित्तीय सहायता तथा प्रशासनिक सहयोग दिया । अजमेर में प्रतिवर्ष होने वाले ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती के उर्स पर सरकार सभी महत्वपूर्ण व्यवस्थाऐं करती हैं न केवल भारत वरन् विश्व के अन्य प्रगतिशील राज्यों द्वारा भी धर्म निरपेक्षता के आदर्श को ही अपनाया गया है । अन्ततः वर्तमान युग धर्मनिरपेक्षता का ही है ।

प्राचीन और मध्ययुग में धर्म और राजनीति का घनिष्ठ सम्बन्ध था किन्तु इस प्रकार के गठबन्धन के परिणामस्वरूप धर्म तथा राजनीति दोनों का ही स्वरूप विकृत हो गया । इसलिये इस प्रकार के धर्माचार्य राज्य के विरूद्ध प्रतिक्रिया आरंभ हुयी और धर्म तथा राजनीति के पृथक्करण पर आधारित धर्म निरपेक्षता के विचार का उदय हुआ किन्तु धर्मनिरपेक्षता के विचार या आदर्श की भी कुछ आधारों पर आलोचना की जाती है ।

सर्वप्रथम आलोचना इस आधार पर की जाती है कि धर्मनिरपेक्ष राज्य, राज्य की धर्म से पृथकता पर आधारित होने के कारण आवश्यक रूप से भौतिक होता

है और जिसके परिणामस्वरूप लोगों में से धर्म और आज्ञापालन की भावना तथा नैतिक आदर्श लुप्त हो जाते हैं। दूसरे आलोचकों का यह भी कथन है कि राज्य में एक धर्म विशेष को मान्यता देने से धार्मिक एकता के आधार पर एक ऐसी राजनीतिक एकता स्थापित हो जाती है जो राज्य को स्थायित्व प्रदान करती है किन्तु धर्म से पृथक होने के कारण धर्म निरपेक्ष राज्य में इस प्रकार की धार्मिक एकता के अभाव में राज्य के छिन्न भिन्न हो जाने की आशंका बनी रहती है । आलोचकों का कथन है कि एक धर्मनिरपेक्ष राज्य में विभिन्न धर्मो के अनुयायी होते हैं, उनके मध्य धार्मिक भेदों के कारण परस्पर संघर्ष होते रहते हैं और यह संघर्ष राज्य की एकता को नष्ट कर देते हैं ।

लोककल्याणकारी राज्य जनहित और सामाजिक कल्याण पर आधारित होता है और लोककल्याण की यह भावना नैतिक आदर्शो और मान्यताओं के आधार पर ही उत्पन्न हो सकती है । किन्तु धर्म निरपेक्ष राज्य धर्म और नैतिकता के प्रति उदासीन होता है । इस कारण यह कभी भी सही अर्थो में लोककल्याणकारी राज्य नहीं हो सकता । आलोचकों का विचार है कि धर्म निरपेक्ष राज्य में लोककल्याण की भावनाओं का पतन हो जाता है और इसमें उन स्वार्थी तत्वों को बढ़ावा मिलता है जो लोककल्याण के विरूद्ध होते हैं । आलोचकों का यह भी कथन है कि धर्म निरपेक्ष राज्य में शासन का कोई नैतिक आधार नहीं होता है इसलिये इस प्रकार का राज्य आसानी से विकृत हो सकता है और अधिनायकवादी रूप ग्रहण कर सकता है । राज्य में धार्मिक तथा नैतिक भावनाओं का पोषण न होने के कारण इस बात की आशंका रहती है कि कोई एक व्यक्ति शासन शक्ति अपने हाथ में लेकर तानाशाही की स्थापना न कर दे । जैसा कि मुसोलिनी ने 1922 में इटली में और हिटलर ने 1933 में जर्मनी में किया था ।

धर्मनिरपेक्ष राज्य में शिक्षण संस्थाओं में छात्रों को किसी प्रकार की धार्मिक शिक्षा नहीं दी जाती है । अतः धार्मिक शिक्षा के अभाव में विद्यार्थी पूर्ण भौतिकता के वातावरण में पलकर बड़े होते हैं और नैतिक अनैतिक मार्ग से भौतिक साधनों की प्राप्ति ही वे अपने जीवन का एकमात्र लक्ष्य बना लेते हैं । जिस देश की युवा पीढ़ी नैतिक और धार्मिक आचरण से हटकर इस प्रकार का अनुचित मार्ग अपना लेती है, उस देश का भविष्य अंधकार मय ही कहा जायेगा ।

इसके अतिरिक्त एक राज्य के अंतर्गत धर्म की दृष्टि से जो वर्ग बहुमत में रहता है वह सदैव ही यह चाहता है कि उसे राज्य के अन्तर्गत अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होना चाहिये । धर्म की दृष्टि से बहुमत में रहने वाले वर्ग को विशेष स्थिति प्राप्त होने पर इस बहुमत वर्ग के द्वारा राज्य के प्रति धर्ममिश्रित देशभक्ति का दृष्टिकोण अपनाया जा सकता है और वे राज्य के कल्याण को अपना विशेष कर्तव्य समझते हैं । किन्तु धर्म निरपेक्ष राज्य में जब बहुमत और अल्पमत वर्ग को समान स्थिति प्राप्त होती है और बहुमत वर्ग को अल्पमत वर्ग के लिये अपनी भावनाओं और हितों पर अंकुश रखना पड़ता है तो इससे बहुमत वर्ग की भावनाओं को आघात पहुँचता है और वे राज्य के प्रति उस श्रद्धा भक्ति का परिचय नहीं दे पाते जिसका परिचय वे दे सकते थे ।

एक अन्य तर्क यह भी दिया जाता है कि धार्मिक स्थानों के निर्माण तथा रखरखाव ,धार्मिक संस्थाओं को चलाने, धार्मिक क्रिया कलापों को प्रोत्साहन देने और धर्म की उन्नति के लिये धन तथा भौतिक साधनों की आवश्यकता होती है । राज्य ही उन साधनों को प्रदान कर सकता है । नागरिकों के लिये यह संभव नहीं है कि वे अपने बल पर इन चीजों के लिये पर्याप्त धन एकत्र कर सके । अतः राज्य की सहायता

आवश्यक है । उसके बिना यह सब कार्य ठीक से सम्पन्न नहीं हो सकेंगे और धर्म का ह्रास होगा । आलोचक यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि इतिहास साक्षी है कि संसार में वे ही धर्म फले फूले जिन्हें राजाश्रय मिला है और जब उन्हें राजाश्रम मिलना बंद हो गया तो उनका पतन हो गया । भारत में बौद्ध धर्म का इतिहास इस बात का साक्षी है । ईसाई धर्म तथा इस्लाम धर्म भी राज्य की सहायता के बल पर ही फले फूले थे ।

धर्म निरपेक्ष राज्य की जो विभिन्न आधारों पर आलोचना की गयी है वह युक्तिसंगत व उचित नहीं है तथा आलोचकों के तर्कों में सार नहीं है । वस्तुतः धर्म तथा आध्यात्मिकता का सम्बन्ध व्यक्ति के अन्तःकरण से होता है जिसे बाहर से नियंत्रित व संचालित नहीं किया जा सकता है । आत्मा की स्वतंत्रता व्यक्ति का सबसे पवित्र अधिकार है । अनेक युगों से लोग अपने इस अधिकार की रक्षा के लिये संघर्ष करते आये हैं । अतः आध्यात्मिक विषयों में राज्य का हस्तक्षेप हानिकारक तो है ही साथ ही साथ वह कभी सफल नहीं हो सकता । इसके अतिरिक्त धर्मनिरपेक्ष राज्य लोकतंत्र और लोककल्याण के मार्ग में बाधक होना तो दूर रहा, यही एक ऐसा मार्ग है जिसके आधार पर लोक कल्याण और लोकतंत्र के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है । धर्म निरपेक्ष राज्य के पक्ष में भी कुछ तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं ।

धर्म निरपेक्ष राज्य की आलोचना करते हुये जो तर्क प्रस्तुत किये गये हैं वे सभी इस मिथ्या धारणा पर आधारित हैं कि धर्म निरपेक्ष राज्य धर्म विरोधी राज्य होता है जबकि वास्तविक स्थिति इसके पूर्णतया विपरीत है । धर्म निरपेक्ष राज्य धर्म विरोधी राज्य नहीं होता वरन् सभी धर्मों के सार मानव धर्म पर आधारित आध्यात्मिक राज्य होता है । इस प्रकार का राज्य उसके कानून और सत्ता सब कुछ नैतिकता पर

आधारित होते हैं । न्यायमूर्ति रामस्वामी का कथन है कि 'धर्मनिरपेक्ष राज्य का तात्पर्य यह नहीं है कि कानून नैतिक आचार विचार से प्रथक हों'।[1]

राष्ट्रीय एकता की प्राप्ति भी धर्म निरपेक्ष राज्य में ही सम्भव है । एक राज्य जिसके अन्तर्गत विभिन्न धर्मो के अनुयायी रहते हैं, यदि किसी एक विशेष धर्म को राज्य धर्म के रूप में अपना लेता है तो अन्य धर्म के अनुयायी राज्य के प्रति उदासीनता का भाव अपना लेते हैं और बहुसंख्यक तथा अल्पसंख्यक वर्ग में सदैव ही संघर्ष की स्थिति बनी रहती है किन्तु धर्म निरपेक्ष राज्य के अन्तर्गत सभी धर्मो के अनुयायियों को समान समझा जाता है और स्वतंत्रता तथा समता पर आधारित यह भ्रातृभाव राष्ट्रीय एकता के लक्ष्य की प्राप्ति में बहुत अधिक सहायक होता है ।[2] इतिहास इस बात का साक्षी है कि अकबर की धर्मनिरपेक्षता ने मुगल साम्राज्य को एकता और सुदृढता प्रदान की लेकिन औरंगजेब की धार्मिक पक्षपात की नीति ने मुगल साम्राज्य को छिन्न भिन्न कर दिया । भारतीय संविधान सभा के सदस्यों का यह भी विचार था कि धर्म निरपेक्षता ही राज्य की एकतता को बनाये रख सकती है और इसलिये ही उन्होंने भारत के लिये धर्म निरपेक्षता के आदर्श को अपनाया ।[3]

इसके साथ ही साथ धर्म निरपेक्षता का एक उपयोगी पहलू यह भी है कि यह आदर्श लोकतंत्र के विचार का ही पूरक है । लोकतंत्र का आदर्श मूल रूप से समानता और स्वतंत्रता की धारणा पर आधारित है और धर्मनिरपेक्ष राज्य में इन दोनों ही आदर्शों को उचित महत्व प्रदान किया जाता है । धर्मनिरपेक्ष राज्य सभी धर्मों को समान समझता है और धर्मनिरपेक्षता की धारणा धार्मिक क्षेत्र

---

1. Justice Ramaswami (Patna High Court), Indian Law Review, Vol. 13- P-93.
2. A.B. Keith- A Constitutional History of India, P- 288.
3. Commentary on the Constitution of India- Chitley. P - 97

में व्यक्ति की स्वतंत्रता पर आधारित है । अतः यह कहा जा सकता है कि धर्मनिरपेक्षता का विचार मूल रूप से लोकतन्त्रात्मक है ।[1] आलोचक यह भी तर्क प्रस्तुत करते हैं कि धर्मनिरपेक्ष राज्य विकृत होकर तानाशाही का रूप धारण कर लेता है । वास्तव में इस प्रकार का भय धर्मनिरपेक्ष राज्य की अपेक्षा धर्माचार्य राज्य में ही अधिक है धर्माचार्य राज्य में शासक अपने आप को ईश्वर का प्रतिनिधि बताकर जनता पर अत्याचार करते हैं । अतीत में इन धर्माचार्य राज्यों में धर्म के नाम पर दूसरे धर्मो के अनुयायियों पर जिस प्रकार के अत्याचार किये गये हैं उनकी कल्पना भी भयावह है । धर्म निरपेक्ष राज्य तो सर्वाधिकार वाद की धारणा का विरोधी होने तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता एवं समानता पर आधारित होने के कारण अधिनायकवाद का विरोधी और प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था का पूरक है ।

आलोचक अपना पक्ष प्रस्तुत करते हुये यह भी कहते हैं कि धर्म निरपेक्ष राज्य कल्याणकारी नहीं हो सकता किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि एक धर्म निरपेक्ष राज्य ही लोककल्याणकारी राज्य हो सकता है । लोककल्याण का तात्पर्य है राज्य द्वारा सभी व्यक्तियों का कल्याण । किन्तु जब धर्माचार्य राज्य के अन्तर्गत एक वर्ग के व्यक्तियों को उच्च वर्ग और दूसरे वर्ग के व्यक्तियों को निम्न स्थिति प्राप्त होती है तो लोक कल्याण के लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता । धर्म निरपेक्ष राज्य व्यक्तिगत स्वतंत्रता और समानता के उस विचार पर आधारित होता है जो एक कल्याणकारी राज्य का प्राणतत्व है । वर्तमान अनुभव इस तथ्य का साक्षी है कि धर्म निरपेक्ष राज्य ही लोक कल्याण के आदर्श को अपना सकते हैं और इस आधार पर शासन व्यवस्था का संचालन कर सकते हैं । भारत इसका उदाहरण है । डॉ. सक्सेना लिखते हैं कि धर्म निरपेक्ष

---

1. W.C. Banerjee- Introduction to Indian Politics. P - 116

राज्य एक लोककल्याणकारी राज्य होता है और बहुधर्मी राज्य में तो लोककल्याण की सिद्धी इसी से संभव है ।[1]

वस्तुतः लोककल्याण धर्मनिरपेक्ष राज्य का धर्म होता है । वर्तमान समय में राज्य के आदर्श रूप में 'लोकतंत्र, लोक कल्याण और धर्मनिरपेक्षता' इन शब्दों का प्रयोग किया जाता है उससे भी स्पष्ट होता है कि वे परस्पर एक दूसरे के पूरक और सहायक हैं ।

इतिहास के अन्तर्गत धार्मिक साम्राज्यवाद के अनेक उदाहरण मिलते हैं जिसमें राजधर्म से पृथक मत रखने वाले व्यक्तियों के प्रति अमानवीय अत्याचार किये गये किन्तु धर्म निरपेक्ष राज्य में शासन व्यवस्था का समस्त संचालन इस तरह से होता है कि धार्मिक साम्राज्य का कोई भय नहीं रहता है । धर्म निरपेक्ष राज्य के संविधान में इस तथ्य का पूरा ध्यान रखा जाता है कि धार्मिक साम्राज्यवाद जैसी कोई स्थिति न उत्पन्न हो । किन्तु यदि इस प्रकार की दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो भी जाय तो धर्म निरपेक्ष कानूनों के आधार पर अल्पमतों के हितों और विश्वासों की रक्षा का कार्य किया जा सकता है ।

इन सब तथ्यों व तर्कों के अतिरिक्त एक तर्क यह भी है कि धर्मनिरपेक्षता विश्व राज्य के आदर्श की पूर्ति में सहायक है । विश्व राज्य एक अत्यधिक उदार व भव्य आदर्श है, जिसकी प्राप्ति शनैः शनैः ही की जा सकती है । धर्म निरपेक्ष राज्य मानवीय स्वतंत्रता और समानता पर आधारित होता है । इसके द्वारा प्रेम, दया, सहिष्णुता,

---

1. Dr. U.K. Saxena-'Secular State and its Institutional pattern' P - 138

सहयोग और मानवीय सद्भावना के गुणों पर जोर दिया जाता है और इस बात का प्रयत्न किया जाता है कि सभी व्यक्ति धर्म, जाति और अन्य भेदों को भुलाकर परस्पर बन्धुत्व के विचार को अपनालें । धर्म निरपेक्षता के विचार की उदार व सरल व्याख्या तो यही है कि मानव मानव है और उसके संबंध में जाति, धर्म, राष्ट्रीयता और अन्य किसी भेद को महत्व नहीं दिया जाना चाहिये । विश्व राज्य का आदर्श भी यही कहलाता है । इस प्रकार धर्म निरपेक्षता विश्व राज्य के आदर्श की पूर्ति में सहायक होती है ।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि धर्मनिरपेक्षता का विचार मानवीय मन और मस्तिष्क में उदारवादी दृष्टिकोण को जन्म देता है । इस दृष्टि से यह एक प्रगतिशील विचारधारा है तथा लोकतांत्रिक राज्यों के लिये तो धर्म निरपेक्षता का आदर्श एक तरह से अपरिहार्य है । प्रत्येक देश में अनेक धर्मो के लोग रहते हैं यदि राज्य किसी एक धर्म को आश्रय देगा तो दूसरे धर्मो के साथ अन्याय होगा और यह भी सम्भव नहीं है कि कोई भी राज्य सभी धर्मो को मान्यता और प्रश्रय दे सके । यदि राज्य धर्म के पचड़े में पड़ता है तो वह धार्मिक संघर्षो का केन्द्र बने बिना नहीं रह सकता है । इसलिये राज्य के लिये धर्म के मामले में तटस्थ रहना ही कल्याणकारी व श्रेयस्कर है । इसके अतिरिक्त यदि कोई राज्य धर्म को आधार बनाता है तो यह निश्चित है कि वह भौतिक प्रगति की दौड़ में पिछड़ जायेगा । कितने ही धार्मिक विश्वास ऐसे है जिनसे लौकिक जीवन की उन्नति में बाधा पड़ी है ।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि भारतीय धर्म निरपेक्षतावाद हमारे प्रगतिशील राष्ट्र की आवश्यकताओं को पुर्ण करने के लिये एक गतिशील व्यवस्था है । यह सामान्य काल में, धर्म एवं राजनीति को न केवल एक दूसरे से अलग रखती है,

बल्कि असाधारण परिस्थितियों में सामाजिक सुधारों की आवश्यकता के लिये धर्म को राजनीति के अधीन भी बना देती है । भारतीय संविधान साम्प्रदायिकता का प्रत्येक स्तर पर चाहे वह धार्मिक, जातिगत या प्रजातिगत या अन्य किसी भी रूप में हो, सामना करने में सक्षम है । हमारे देश की धर्म निरपेक्षता के प्रगतिशील व गतिशील रूझान के प्रति सदस्यों द्वारा व्यक्त संदेह व भय को निराधार बताते हुये डॉ. अम्बेडकर ने संविधान सभा में बड़ी स्पष्टता से कहा कि यह किसी के लिये सोचना असंभव है कि किसी सम्प्रदाय के निजी कानून राज्य के अधिकार क्षेत्र से बाहर होंगे । अतः राज्य का कोई समुदाय यह न सोचे कि वह संसद की सम्प्रभु सत्ता की सीमा से बाहर है ।[1]

वास्तव में महत्वपूर्ण विचार किसी धर्म की पारम्परिक पवित्रता नहीं वरन् एक प्रगतिशील व प्रमुख राष्ट्र की शक्ति और एकता है । अतः धर्म निरपेक्षता से संबंधित संविधान के सभी उपबन्धों में धर्म तथा राजनीति के गठबन्धन से बचने का सुदृढ प्रयास देखा जा सकता है । क्योंकि राज्य की स्थिरता के लिये ऐसा गठबन्धत बहुत घातक है यह व्यवस्था वैसी ही है जैसी एक प्रगतिशील आधुनिक प्रजातंत्र में होनी चाहिये ।[2] डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार धार्मिक निष्पक्षता का ज्ञान और सहिष्णुता का यह दृष्टिकोण राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के संचालन में एक नये भविष्य का निर्माण कर सकता है । एक प्रगतिशील राज्य धर्म निरपेक्षता की नींव पर खड़ा हो सकता है और भारतीय संविधान द्वारा अपनायी गयी धर्मनिरपेक्षता का स्वभाव नकारात्मक नहीं वरन् सकारात्मक है । यह व्यवस्था भारतीय परम्परा राष्ट्रीय आन्दोलन के घोषित लक्ष्यों और एक प्रगति शील विचारधारा के अनुकूल है ।

---

1. Constituent Assembly Debates, Vol.VII,P- 781.
2. Parliamentary Debates, 1951, Vol-VIII,2950.

अध्याय - पंचम

भारतीय राजनीतिक प्रक्रिया और धर्म

अध्याय - 5

भारतीय राजनीतिक प्रक्रिया और धर्म

प्रस्तुत शोध प्रबंध में भारतीय राजनीति तथा धर्म के पारस्परिक समीकरण का गहराई से अध्ययन करने की चेष्टा की गयी है । यों तो अगर भारत वर्ष के इतिहास पर दृष्टि डाली जाये तो धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में इस देश ने महान उपलब्धियां भी हासिल की है और मानव जाति को संस्कारित करने में धर्म एक प्रबल कारक के रूप में भी रहा है । इस शोध प्रबंध में यह तो संभव नहीं कि हम भारतीय राजनीतिक प्रक्रिया और उसको प्रभावित करने में एक कारक के रूप में धर्म की भूमिका का विस्तार से एक दीर्घकालीन ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण कर सकें । इसलिये विशेष रूप से राजनीतिक स्वाधीनता की प्राप्ति के बाद के काल में धर्म और राजनीति के संबंध का जिस रूप में विकास हुआ, जिस रूप में धर्म ने राजनीतिक प्रक्रिया को स्वस्थ अथवा अस्वस्थ ढंग से प्रभावित किया धर्म जिस प्रकार से स्वयं सर्वोच्च नैतिक मूल्यों और आग्रहों से फिसल कर कट्टरवाद और सम्प्रदाय वाद के रूप में प्रतिष्ठित होता गया, अपने को वामपंथी और समाजवादी कहने वाले दलों ने भी जिस प्रकार से परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से सम्प्रदाय और जातिगत आधारों का दुरूपयोग किया इस शोध प्रबंध में विशेष रूप से इन्ही तथा ऐसे ही कुछ और पहलुओं पर विचार किया गया है ।

सैद्धान्तिक मान्यताओं और आग्रहों के आधार पर हमने अपने संविधान तथा भारतीय राजनीति में धर्म निरपेक्षता को ग्रहण किया और प्रतिष्ठित किया । किन्तु व्यवहार में कैसे ठीक उसके विपरीत आचरण करके सम्पूर्ण भारतीय राजनीतिक प्रक्रिया एक स्वस्थ दिशा में विकसित होने में अवरोध उत्पन्न किया, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है ।

यों तो आजादी के पूर्व भी अंग्रेजों ने धर्म का प्रयोग कूटनीतिक तौर पर अपने को सबसे अधिक शक्तिशाली बनाये रखने के लिये हिन्दुओं और मुसलमानों में एक अलगाव की दीवार खड़ा करने के साधन के रूप में किया गया था ।[1] मेहता और पटवर्धन ने ठीक ही लिखा है कि अपने समस्त विख्यात कोशल के साथ, जिसने कि अभी हाल तक उसकी कूटनीति को संसार में सर्वाधिक शक्तिशाली बनाये रखा था, अंग्रेज शासकों ने अपने आपको हिन्दू और मुसलमानों के मध्य खड़ा करके ऐसे साम्प्रदायिक त्रिभुज की रचना का निश्चय किया, जिसके आधार वे स्वयं रहे ।

उपरोक्त कथन में श्री अशोक मेहता और श्री अच्युत पटवर्धन ने बड़े प्रभावी ढंग से इस बात की तरफ संकेत किया है कि अंग्रेज शासकों ने किस प्रकार अपने आपको हिन्दू और मुसलमानों के मध्य खड़ा करके एक साम्प्रदायिक त्रिभुज की रचना की जिसके आधार वे स्वयं बने रहे ।

महात्मा गांधी ने स्वयं द्वितीय गोलमेज सम्मेलन के अवसर पर यह विचार व्यक्त किया था कि भारत में साम्प्रदायिकता की समस्या ब्रिटिश शासन के समकालीन है यह कहना तो ठीक नहीं है कि साम्प्रदायिकता के उद्भव और विकास का सम्पूर्ण दोष अंग्रेजों के सिर पर मढ़ा जा सकता है किन्तु इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि भारतीय राजनीति के क्षेत्र में साम्प्रदायिकता के उद्भव और विकास का उत्तरदायित्व मुख्य रूप से अंग्रेजों के कन्धों पर ही आकर पड़ता है ।[1] जब हम भारतीय राजनीति प्रक्रिया और उसको प्रभावित करने वाले कारक के रूप में धर्म की भूमिका पर दृष्टि

---

1. Dr. Pattaabhi's - History of Congress, P. 384, 385

2. द्वितीय गोलमेज सम्मेलन (लन्दन में 1931)

डालते हैं तो हम यह भी पाते हैं कि आजादी से पहले किस प्रकार धर्म को ही आधार बनाकर इस विशाल देश का आजादी के साथ-साथ ही दो हिस्सों में दुखद विभाजन हुआ. बहुत हद तक भारतीय राजनीतिक प्रक्रिया के ऊपर यह धार्मिक जुनून का ही एक दुष्प्रभाव था कि मुहम्मद अली जिन्ना एक राष्ट्रवादी मुसलमान से एक मुसलमान राष्ट्रवादी बने गये ।[1] मुस्लिम लीग की स्थापना, उसका विकास, उसके द्वारा देश के बंटवारे पर जोर देना और अन्ततः इस देश को दो हिस्सों में बांटकर खंडित आजादी से ही सन्तोष करना यह सब धर्म के दुरूपयोग के ही दुष्परिणाम थे ।[2]

आज हम यह भी जानते हैं कि केवल धर्म के आधार पर किसी देश की राजनीति को स्वस्थ ढंग से संचालित नहीं किया जा सकता । यदि मात्र धर्म को केन्द्र में रखकर किसी देश में स्वस्थ राजनीति का विकास संभव होता और राष्ट्रीय एकता को सुदृढ आधार दे पाना संभव होता तो भारतवर्ष से पाकिस्तान का अलग होना और पुनः पाकिस्तान से बंगलादेश का अलग होना, संभव न हो पाता ।

यहां यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि धर्म के आधार पर बना हुआ पाकिस्तान स्वयं अपने आन्तरिक राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक अन्तर्द्वन्द्वों का समाधान नहीं कर सका । इन्हीं सब कारणों से प्रेरित होकर आजादी के बाद इस देश की राजनीति और संविधान दोनों में ही सैद्धांतिक आधार पर एक धर्मनिरपेक्ष राज्य को आदर्श के रूप में स्वीकार किया गया ।

---

1. Sir William Hunter - 'The Indian Musalman' P. 155
2. Symonds - 'The making of Pakistan' P. 53

डॉ0 लंकासुन्दरम ने लिखा है कि विश्व इतिहास स्थायी महत्व का कोई पाठ पढ़ाता है तो वह यह है कि यदि धर्म को जीवित रखना है और यदि राजनीति किसी जन समुदाय के न्यायपूर्ण अधिकार को बनाये रखना चाहती है तथा उसे सुदृढ व आत्म सम्मानी बनाना चाहती है तो धर्म को राजनीति से मिश्रित नहीं किया जाना चाहिए । धर्म और राजनीति का गठबन्धन राष्ट्रीय राजनीतिक जीवन, राष्ट्रीय राजनीतिक प्रणाली और सम्पूर्ण राजनीतिक प्रक्रिया को ही बहुत हद तक भ्रष्ट करता है ।[1]

सैकड़ों वर्षों के सतत विकास के क्रम में मनुष्य ने तीन मूल्यवान सिद्धांत विकसित किये- लोकतंत्र, समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता तथा विश्व के कुछ गिने-चुने कट्टर साम्यवादी तथा कट्टर धर्मालम्बी राज्यों को छोड़कर प्रायः सभी राज्यों ने इन आदर्शों को स्वीकार भी किया और अपनी सीमाओं के दायरे में रहते हुये इन्हें चरितार्थ करने की भी चेष्टा की । हम यह जानते हैं कि आजादी के पूर्व के वर्षों में भी किस प्रकार अनेक महत्वपूर्ण राष्ट्रीय नेता नेहरू, जयप्रकाश, लोहिया, मेहता, पटवर्धन, अरूणा आसफ अली, आदि ने समाजवाद और लोकतंत्र के माध्यम से ही इस देश के लिये एक सुखद, सम्पन्न और समतामूलक सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था कायम करने का संकल्प व्यक्त किया था ।

इस शोध प्रबंध में बार-बार राजनीतिक प्रक्रिया का तथा धर्म पर उसके प्रभाव का जिक्र आता है तो हमारा अभिप्राय स्पष्ट रूप से यह होता है कि धर्म ने किस प्रकार लोकतंत्र को, लोकतंत्रीय प्रणाली को, दलीय व्यवस्था को ,चुनावी प्रक्रिया को ,

---

1. Lanka Sundaram - 'A Secular State in India' P. 12

प्रभावित किया । क्या धर्म अपने व्यापक नैतिक मानवीय मूल्यों और आग्रहों के साथ राजनीतिक प्राक्रिया और व्यवहार को एक स्वस्थ दिशा देने वाले कारक के रूप में उभर कर आया अथवा पुरी चालाकी के साथ धर्म को ही एक मुद्दा बनाकर सम्पूर्ण राजनीतिक प्रक्रिया को ही बीमार और अस्वस्थ बनाने की चेष्टा की गयी । गांधी का व्यक्तित्व स्वयं धर्म और अध्यात्म से ओत-प्रोत था किन्तु उन्होंने कभी भी धर्म को किसी संकीर्ण मतवाद या कट्टरपंथ के रूप में देखने और समझने को चेष्टा नहीं की ।[1] राष्ट्रीय स्वाधीनता के संघर्ष में क्रांतिकारियों ने भी कभी इस बात की चिन्ता नहीं की कि उनका धर्म क्या है, उनकी जाति क्या है, उनके धार्मिक विश्वास और पूंजा पद्धतियाँ क्या हैं बल्कि इन समस्त संकीर्णताओं से ऊपर उठकर उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन राष्ट्रीय आजादी की लड़ाई में होम कर दिया और एक उदात्त राष्ट्रवाद का चिरस्मरणीय उदाहरण प्रस्तुत किया किन्तु आजाद भारत में भारतीय जनता पार्टी डंके की चोट पर **" राम और रोटी "** का नारा देती है, मंदिर अपने आप में एक पवित्र पूजा स्थल के धरातल से हटकर तात्कालिक राजनीति का एक मुद्दा बन जाता है, इसी प्रकार मुसलमान भी बाबरी मस्जिद से उतनी सघनता से जुड़े नहीं है, जितना कि एक राजनीतिक मुद्दे के रूप में उसका दोहन करना चाहते हैं यदि गंभीरता पूर्वक विचार किया जाये तो धर्म को व्यक्ति के निजी आस्था के क्षेत्र से निकालकर राजनीति के क्षेत्र में लाने के कारण सम्पूर्ण राजनीतिक प्रक्रिया की दिशा ही विकृत हो गयी है ।

राजनीतिक दल अपने आचरण में, प्रत्याशियों के चयन में, चुनाव प्रचार में, अभिप्राय यह कि प्रत्येक स्तर पर प्रत्येक राजनीतिक प्रक्रिया में धर्म का दुरूपयोग

---

1. Polak - Mahatma Gandi P. 165

और दोहन ही कर रहे हैं, परिणामस्वरूप लोकतन्त्र, लोकतन्त्रीय व्यवस्था संस्थागत रूप में तो इस देश में मौजूद हैं किन्तु उसका प्राणतत्व लगभग मृतप्राय सा हो रहा है । एक तरफ तो साम्यवादियों ने यह भूल की थी कि धर्म को अफीम कहकर उसे मानव जीवन से पूरी तरह खारिज करने का वैचारिक दुस्साहस दिखाया था । दूसरी तरफ धर्म को केन्द्र में रखकर राजनीति करने वालों ने धर्म को ही उसके उच्च आसन से गिराकर उसे भी भ्रष्ट किया और इस देश की सम्पूर्ण राजनीतिक प्रक्रिया को ही पतन का शिकार बनाया । धर्म व्यवहार में धर्मान्धता और घोर साम्प्रदायिकता का रूप लेता गया, लोगों को एक दूसरे से जोड़ने वाले कारक के रूप में न रहकर यह लोगों के मध्य एक अलगाव और नफरत की दीवार खड़ा करने वाले कारक के रूप में विकसित हुआ ।[1] आज के वर्तमान राजनीतिक परिदृश्य में सभी राजनैतिक दलों के प्रत्याशियों के चयन की प्रक्रिया से लेकर चुनाव परिणाम तक की प्रक्रिया तक धर्म का दोहन और शोषण किया जाता है । परिणामस्वरूप जिन आधारभूत मूल्यों और सिद्धान्तों पर एक स्वस्थ लोकतन्त्रीय व्यवस्था खड़ी होती है वे ही चरमरा कर टूट जाती है ।

हमारे सम्मुख पिछले चुनावों के कटु अनुभव इस बात के प्रमाण है कि हमने किस प्रकार और किस सीमा तक धर्म, सम्प्रदाय, जाति आदि को आगे कर सम्पूर्ण राजनीतिक प्रक्रिया को ही एक स्वस्थ दिशा से भटकाने का कार्य किया है । इस शोध प्रबंध में इन्हीं प्रश्नों के विभिन्न आयामों को एवं संविधानिक व्यवस्था और उसके व्यवहारिक स्वरूप को जाँचने और परखने की मैंने चेष्टा की है और यदि संभव हो तो भारतीय राजनीति के लिये कुछ स्वस्थ दिशा बोध तलाशने की चेष्टा की है ।

---

1. Rajni Kothari - 'politics in India' P. 72

अध्याय - षष्ठम

भारतीय राजनीति में धर्म का वास्तविक क्रियात्मक रूप

अध्याय - 6

भारतीय राजनीति में धर्म का वास्तविक क्रियात्मक रूप

इस शोध - प्रबंध के प्रारंभिक पृष्ठों में हमने संक्षेप में इस विषय पर पहले ही विचार किया है कि भारतीय संविधान में धर्मनिरपेक्ष राज्य को एक आदर्श के रूप में स्वीकार किया गया था । संविधान की संशोधित मूल प्रस्तावना में तो 'धर्मनिरपेक्ष' और 'समाजवादी' शब्दों को स्पष्ट रूप से अलग से जोड़ दिया गया है । संविधान की विभिन्न धाराओं और उपधाराओं में भी समाजवादी और धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना के अनेक स्पष्ट और निश्चित संकेत उपलब्ध हैं जिनकी चर्चा पहले ही की जा चुकी है ।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व भी हमारी राष्ट्रीय स्वाधीनता के संघर्ष का नेतृत्व करने वाले अनेक नेताओं ने आजादी प्राप्ति के पश्चात् भविष्य में बनने वाले भारतवर्ष के समाजवादी और धर्मनिरपेक्ष राज्य के आदर्श की तरफ स्पष्ट संकेत किया था । महात्मा गांधी जैसे महामानव ने भी जो किसी प्रकार की साम्प्रदायिक एवं धार्मिक संकीर्णता से न केवल पूर्णरूपेणमुक्त थे बल्कि जिसकी धर्म के प्रति एक अत्यन्त, उदार, व्यापक और मानवीय दृष्टि थी, धर्म और राज्य को एक दूसरे से अलग-अलग रखने की वकालत की थी । अत्यन्त संक्षेप में यदि धर्म निरपेक्ष राज्य के सार- तत्व को रेखांकित करना हो तो हम यह कह सकते हैं कि धर्म व्यक्ति का नितान्त निजी विषय है और राज्य को अपने-आपको इससे बिलकुल अलग रखने की चेष्टा करनी चाहिये । वैसे भी भारतवर्ष एक ऐसा विशाल देश है जिसमें अनेक महत्वपूर्ण धर्मो के अनुयायी निवास करते हैं और राज्य का किसी भी प्रकार से धर्म के क्षेत्र में उलझना अनेक पेचीदगियां

पैदा करेगा । हम यह भी जानते हैं कि आजादी के पूर्व के वर्षों में भी जिस प्रकार से भारतीय राजनीति में न केवल साम्यवादी विचारधारा के मानने वाले लोगों ने धर्म के प्रतिमार्क्स, एंजिल्स और लेनिन आदि से प्रेरित दृष्टिकोण को अपनाया और विकसित किया था, बल्कि समाजवादी नेताओं का एक बहुत बड़ा खेमा जिसमें श्री जय प्रकाश नारायण, श्री आचार्य नरेन्द्र देव, श्री राम मनोहर लोहिया, श्री अशोक मेहता, श्री अच्युत पटवर्द्धन, श्री आचार्य जे.बी. कृपलानी, श्रीमती अरूणा आसफ अली जैसे अनेक नेताओं ने भी समाजवादी समाज की रचना के लिये पृष्ठ भूमि तैयार करने का कार्य किया । स्वयं पंडित जवाहर लाल नेहरू मार्क्स के चिंतन से बहुत अधिक प्रभावित थे चाहे भले ही वे एक कट्टर मार्क्सवादी कभी न रहे हों । इतिहास को देखने और समझने की नेहरू की दृष्टि एक सीमा तक निश्चय ही मार्क्स से प्रभावित थी । एक बात और इस संदर्भ में जोड़ना आवश्यक है कि भारतीय स्वाधीनता के लिये काम करने वाले क्रान्तिकारियों में भी विभिन्न धर्मों के लोग मौजूद थे और समाजवादी मूल्यों और आदर्शों से वे भी गहन रूप से अनुप्राणित थे । अपने महान लक्ष्य की प्राप्ति के लिये वे भी पूर्ण रूपेण समर्पित थे और धर्म उनके बीच कोई विभाजन की दीवार नहीं खड़ा कर सका था । यहां अप्रसांगिक नहीं होगा अगर हम इस बात का भी संकेत कर दें कि रूस की महान क्रान्ति (1917) ने भी भारत के लोगों और उनके नेताओं में एक जबरदस्त आशा और आत्म -विश्वास का संचार किया था । जवाहर लाल नेहरू की मानसिक संरचना में तो लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता और समाजवाद बहुत गहरे धंसे हुये मूल्य थे जिनके लिये आजादी के बाद भी उन्होंने प्रयत्न किये । यहां पर हम स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात उनके द्वारा किये गये कार्यों की सफलता एवं विफलता का मूल्य आंकाना नहीं चाहते बल्कि उनके वैचारिक प्रतिबद्धता की दिशा का संकेत मात्र करना चाहते हैं ।

अब हम इस विषय पर थोड़ा विस्तार से विचार करेंगे कि क्यों आजादी के बाद धर्मनिरपेक्षता का यह घोषित मूल्य और आदर्श व्यवहार में अपनी जड़े गहरी नहीं जमा सका और आज इतने वर्षों बाद भी इस देश में धार्मिक और साम्प्रदायिक उन्माद अपनी चरम सीमा पर दिखायी पड़ रहा है । इस प्रसंग में हम सत्ताधारी दल और विरोधी दलों के चरित्र और उनके व्यवहार का भी विश्लेषण और उसकी समीक्षा करने का प्रयास करेंगे ।

विचार की सुविधा की दृष्टि से हम पहले कांग्रेस पार्टी और उसके बाद मोटे रूप में वामपंथी तथा दक्षिण पंथी राजनीति करने वाले कुछ प्रमुख दलों तक ही सीमित रखना चाहेंगे ।

15 अगस्त सन् 1947 को जो आजादी इस देश को प्राप्त हुयी थी यह एक खंडित आजादी थी । देश का बंटवारा दो हिस्सों में भारत और पाकिस्तान के नाम से हो गया । बहुत विस्तार से इस बंटवारे की ऐतिहासिक अनिवार्यता अथवा इस बंटवारे को टाल सकने की सम्भावना पर हम यहां विचार करना नहीं चाहते लेकिन फिर भी संकेत रूप में इतना तो स्पष्ट करना ही होगा कि भारतीय राजनीति में कुछ एक नेता जिनमें शीर्ष पर महात्मा गांधी थे, इस बंटवारे के औचित्य के प्रति बिलकुल आश्वास्त नहीं थे । प्रारंभ में तो गांधी आजादी के लिये कुछ वर्षों तक और प्रतीक्षा कर लेना बेहतर समझते थे । अपेक्षाकृत इस खंडित आजादी के । लेकिन परिस्थितियों का दबाव कुछ इस प्रकार का बना और बढ़ा कि हमारे अधिकतर नेता खंडित आजादी को ही उन स्थितियों में उचित मानकर स्वीकार करने के लिये लालायित से नजर आये ।[1] बाध्य

Dr. Prasad-Gandhi & Sarvodaya. P - 148

होकर अत्यन्त गहन अवसाद के साथ गांधी को इस बंटवारे को अपनी मौन स्वीकृति देनी पड़ी और इस प्रकार हमने खंडित आजादी के लक्ष्य को प्राप्त किया तथा प्रधानमंत्रित्व की बागडोर जवाहरलाल नेहरू, जिन्हें गांधी का राजनीतिक उत्तराधिकारी भी माना जाता था, को सौंपी गयी । कुछ ही समय बाद समाजवादी विचारधारा में आस्था रखने वाले लोग भी कांग्रेस पार्टी से अलग हटते गये और अलग से एक समाजवादी दल का निर्माण कर लिया ।

26 जनवरी सन् 1950 को हमने अपने ऊपर एक सम्प्रभुता सम्पन्न गणतंत्रात्मक संविधान को भी लागू किया जिसमें नागरिकों के मौलिक अधिकारों को सुनिश्चित करने की स्पष्ट व्यवस्था थी । इसके साथ ही साथ राज्य के लिये भी नीति निर्देशक तत्वों की व्यवस्था थी जिनमें गांधी-वादी, समाजवादी तथा अर्न्तराष्ट्रीय राजनीति को प्रेरित और अनुप्राणित करने वाले सिद्धान्तों पर बल दिया गया था ।[1] यहां पर इस शोध प्रबंध में हम इस बात पर बहुत विस्तार से विचार नहीं कर पायेंगे कि मौलिक अधिकारों की जो रूपरेखा संविधान में स्पष्ट रूप से प्रस्तुत की गयी थी उसमें भी गहरे अर्न्तविरोध थे और उसी प्रकार राज्य के नीति निदेशक तत्वों का स्वरूप भी आदर्शोन्मुख होने के बावजूद एक हद तक हवाई हो गया था क्योंकि राज्य के द्वारा इन नीति निर्देशक सिद्धान्तों के पालन करने की कोई बाध्यता नहीं थी । उसके पीछे बहुत कुछ एक नैतिक आग्रह मात्र था । इसी प्रकार मौलिक अधिकारों के संदर्भ में भी केवल इतना ही संकेत संक्षेप में किया जा सकता है कि सम्पत्ति का मौलिक अधिकार अपने आप में समाज व्यवस्था को असमानता मूलक बनाने की क्षमता रखता है । बाद में जैसा कि हम जानते हैं कि इस अधिकार को मौलिक अधिकार की जगह कानूनी अधिकार बना दिया

---

1. Indian National Revolution - Mazumdar P.235

गया ।[1] मौलिक अधिकारों के अनेक अन्य अन्तर्विरोधों की तरफ भी संकेत किया जा सकता है किन्तु मूल रूप से वह हमारे शोध निबंध का अभीष्ट नहीं है ।

सन् 1952 में इस देश में प्रथम आम चुनाव हुआ ।[2] कांग्रेस पार्टी चूँकि राष्ट्रीय स्वाधीनता की लड़ाई की मुख्य रूप से अगुआ रही थी, इसलिये राष्ट्रीय चेतना में अपने गौरवपूर्ण इतिहास के कारण उसका अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रहा था । महात्मा गांधी ने तो कांग्रेस पार्टी को समाप्त करने की बात की थी और इसके पीछे संभवतः उनकी दृष्टि यही थी कि अब यदि कांग्रेस पार्टी बनी रहती है तो वह राजनीति में अपने अतीत को भुनायेगी और राजनीतिक लाभ प्राप्त करेगी । लेकिन हम यह भी जानते हैं कि अपने गहन मानवीय मूल्यों और व्यापक संवेदनात्मक आधार के बावजूद 30 जनवरी सन् 1978 को महात्मा गांधी की हत्या कर दी गयी थी । यह केवल गांधी के शरीर की ही हत्या नहीं की बल्कि उन मूल्यों की भी हत्या थी जिनका प्रतिनिधित्व गांधी पूरी दृढ़ता के साथ करते थे । सन् 1952 के चुनाव में जैसा प्रत्याशित ही था, कांग्रेस पार्टी पूरे देश में बहुमत में आयी और केन्द्र में नेहरू के नेतृत्व में सरकार का निर्माण किया गया ।

आजादी के बाद एक दुखद प्रवृत्ति भारतीय राजनीति में यह भी दिखायी पड़ती है कि सैद्धान्तिक आग्रह और जीवन मूल्यों की प्रतिबद्धता चाहे शब्दों में जो रही हो, व्यवहार में निरन्तर विकृत होती चली गयी ।[3] कहीं तो गांधी का उदार, व्यापक

---

1. 44 वें संशोधन द्वारा सम्पत्ति के अधिकार को मौलिक अधिकारों की सूची से निकाल दिया गया ।
2. स्वतंत्र भारत में प्रथम आम चुनाव 1952 में हुआ ।
3. Land marks in Indidian constitutional & National Development - Gurmukh Nihal Singh. P. 17

वट वृक्ष जैसा व्यक्तित्व था जो सभी के घावों पर मरहम लगाने का काम करता था । और कहां भारतीय राजनीति में ऐसी पतनोन्मुख प्रवृत्तियों के विकास का सिलसिला शुरू हुआ जिसका नग्न नृत्य आज हम पूरे देश में देख रहे हैं । इसमें दो राय नहीं कि जवाहर लाल का व्यक्तित्व बहुत महान था और आधुनिक जीवन मूल्यों (जिनमें धर्मनिरपेक्षता भी शामिल है) के प्रति गहन आकर्षण भी था । उन्होंने आधुनिक भारत के संस्थागत ढांचे की एक प्रकार से आधारशिला ही रखी । किन्तु इस बात की तरफ संकेत करना भी आवश्यक लगता है कि वोटों की राजनीति ने सिद्धान्तों को पीछे ढकेल दिया और कांग्रेस पार्टी धर्मनिरपेक्षता, लोकतंत्र और समाजवाद की बार बार दुहाई देने के बाद भी भारतीय राजनीति में निरन्तर विकसित होने वाली जाति, धर्म और सम्प्रदाय की संकीर्ण प्रवृत्तियों को रोक नहीं सकी । हमारा देश एक तो यूं ही नाना प्रकार के अन्ध विश्वासों और रूढ़ियों से ग्रस्त हैं, देश की बहुत बड़ी जनसंख्या अशिक्षित है, वैज्ञानिक चेतना का उसमें अभाव है । ऐसी स्थितियों में सरकार का दायित्व तो यह होना चाहिये था कि वह वोटों की राजनीति कुछ स्वस्थ जीवन मूल्यों और आदर्शो को केन्द्र बनाकर करती किन्तु व्यवहार में ठीक इसके विपरीत हुआ । यह कहना अतिश्योक्ति नहीं होगा कि आजादी के पहले के वर्षो में राष्ट्रीय चेतना कहीं अधिक स्वस्थ थी, आजादी के बाद तो राष्ट्रीय चेतना का क्रमिक ह्रास ही दिखायी पड़ता है ।

यो तो हमारे देश का नेतृत्व प्रधान मंत्री के रूप में पंडित जवाहरलाल नेहरू के हाथ में था । नेहरू का व्यक्तित्व अत्यन्त महान था और उनकी जीवन दृष्टि जिन तत्वों से निर्मित हुयी थी उसमें आधुनिकता का बहुत अधिक प्रभाव था ।[2] नेहरू

---

1. Mahatma - D.C. Tendulkar. P. 227
2. The spirit of Indian Nationalism by - C.C. Pal. P. 40

राष्ट्रवाद के स्वरूप को धर्म निरपेक्ष भावनाओं से सजोते थे । वे किसी भी समय हिन्दू मुस्लिम प्रश्न पर उग्र भाव नहीं रखते थे । जितना स्पष्ट दृष्टिकोण धर्म निरपेक्षता के बारे में नेहरू का था संभवत: किसी का नहीं ।

नेहरू के लिये धर्म निरपेक्षता का अभिप्राय यह नहीं था कि हम सभी धर्मो को देश के बाहर फेंक दें । धर्म व्यक्ति की अपनी अन्त:करण की वस्तु होगी तथा राज्य को धर्म से कोई लेन देन नहीं होना चाहिये । नेहरू की मान्यता थी कि किसी धर्म को मानने के लिये हमें किसी को बाध्य नहीं करना चाहिये और न ही राज्य को धर्म के आधार पर अपने नागरिकों में भेदभाव बरतना चाहिये, राज्य को सभी धर्मो के प्रति समानता रखनी चाहिये ।

पंडित जी ने इस बात पर बल दिया कि धर्म निरपेक्षता हमारे राष्ट्र के लिये एक रास्ता नहीं है बल्कि एक मात्र रास्ता है । नेहरू ने धर्म निरपेक्षता को एक वैज्ञानिक तथा लौकिक मानवतावादी दृष्टि दी । वे अपने सत्रह वर्ष के कार्यकाल में धर्म निरपेक्षता के लिये सतत् प्रयत्नशील रहे । भारत पाकिस्तान विभाजन के समय उन्होंने हिन्दू मुस्लिम हिंसा और घृणा के साम्प्रदायिक जहर को देखा और हतप्रभ रह गये । बिहार में जब हिन्दू मुस्लिम दंगे भड़के तो वे दहाड़ उठे किसी भी मुसलमान को मारने से पहले मुझे मारना पड़ेगा । [2] उन्होंने लाहौर में धार्मिक सद्भाव के बारे में कहा था कि धर्म की कट्टरता एवं रूढ़ियों उन्हें पसन्द नहीं । वे किसी भी स्थिति में फिरकापरस्ती के हामी नहीं थे । देश के विभाजन के बाद उन्होंने भारत में रहने वाले

---

1. J. Nehru - The Discovery of India. P - 108
2. Michael Breches - Nehru, Political Biography P - 289

अल्पसंख्यक जाति के लोगों को अपने उदार राष्ट्र का अमृत दिया और उन्हें अपनी बाँहों का सहारा देकर धर्म निरपेक्ष राष्ट्रवाद की नींव को दृढ़ किया ।

नेहरू ने आजादी के पहले के वर्षों में अपने कारागार के चुनाव के दौरान समाजवादी साहित्य का और विशेषकर कार्लमार्क्स के साहित्य का बहुत गंभीरता से अध्ययन किया और उन्होंने यह स्वीकार भी किया था कि मार्क्स का जीवन दर्शन इतिहास को समझने की एक वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान करता है । लोकतन्त्र, समाजवाद और धर्म निरपेक्षता में नेहरू की गहन आस्था थी और निश्चय ही वे एक ऐसे राष्ट्र के निर्माण के प्रति संकल्पित थे जो न केवल भौतिक दृष्टि से समृद्ध हो बल्कि जिसमें लोकतन्त्र की संभावनाऐं पूरी तरह विकसित हों और जिसमें सरकार धर्म निरपेक्षता को एक स्वस्थ, आधुनिक जीवन मूल्य मानते हुये उसके विकास के लिये सतत् प्रयत्नशील हो ।[1] नेहरू के इन सैद्धान्तिक आग्रहों और आस्थाओं के बावजूद देश में कांग्रेस पार्टी ने व्यवहार में जिस प्रकार की राजनीति को आगे बढ़ाया उसके परिणामस्वरूप धर्म निरपेक्ष राज्य की जो प्रबल संभावनाऐं प्रारंभ में दिखायी पड़ती थी, वे पूरी तरह प्रस्फुटित एवं विकसित नहीं हुयी । व्यवहार में कांग्रेस पार्टी भी चुनाव के समय प्रत्याशियों के चयन में तथा अन्य अवसरों पर भी धर्म और जाति की संकीर्ण सीमाओं से ऊपर उठकर आचरण नहीं कर सकी और देश के राजनीतिक और राष्ट्रीय वातावरण में विकृतियों और विसंगियों का दुष्प्रभाव बढ़ने लगा ।[1]

---

1. Dr. Pattabhi - A History of Congress P -106
2. Mehta & Patwardhan - The Communal Triangle India. P - 96

यहां इस बात की तरफ संकेत कर देना भी अत्यन्त आवश्यक है कि नेहरू के कार्यकाल तक राष्ट्रीय जीवन में चाहे अनेक कारणों से गिरावट का क्रम भले ही हो गया हो तब भी आदर्शों और मूल्यों के प्रति एक लगाव और चिन्ता भी अवश्य देखी जा सकती है और व्यक्तिगत रूप से नेहरू के ईमानदारी, राष्ट्रीय अथवा आधुनिक जीवन मूल्यों पर सन्देह की दृष्टि से देखना सर्वथा गलत और अनुचित होगा किन्तु राष्ट्रीय रंगमंच से नेहरू के हटने के पश्चात कांग्रेस पार्टी में गिरावट की प्रक्रिया क्रमशः तीव्र होती गयी जिसका दुष्प्रभाव देश के राजनीतिक जीवन पर भी बढ़ता गया । पंडित जवाहरलाल नेहरू की मृत्यु सन् 1964 में हुयी और उसके पहले भी भारत वर्ष पर सन् 1962 में चीन का आक्रमण हो चुका था । हम जानते है कि नेहरू एक राजनेता मात्र नहीं थे और उनकी चिन्ता का विषय केवल देश नहीं था बल्कि वह समूचे संसार में शान्ति और न्याय की शक्तियों को सुदृढ़ करने में भी विश्वास रखते थे । चीन के आक्रमण ने उनके आदर्शों और स्वप्नों के संसार को एक हद तक छिन्न-भिन्न कर दिया था । कहने का अभिप्राय यह है कि सन् 1964 में मृत्यु से पहले नेहरू के अन्तर्राष्ट्रीय आदर्शों को एक जबरदस्त झटका लग चुका था और देश के अन्दर की परिस्थितियों से भी वे अवश्य ही प्रभावित रहे होंगे । सन् 1964 से लेकर आज तक देश में और भी अनेक प्रधानमंत्री हुये जिनमें श्री लाल बहादुर शास्त्री, श्रीमती इंदिरा गांधी, मोरार जी देसाई, श्री राजीव गांधी और श्री नरसिंह राव भी शामिल हैं । नेहरू के बाद उतनी गहराई से धर्म निरपेक्षता के मूल्य को किसी भी दूसरे प्रधानमंत्री ने स्वीकार नहीं किया और यदि ऊपरी तौर पर स्वीकार भी किया तो यह उनके व्यक्तित्व और जीवन दृष्टि का अनिवार्य हिस्सा नहीं बन सका । परिणाम यह हुआ कि देश की राजनीति शतरंज के खेल जैसी होती चली गयी जिसमें जीवन मूल्य, सिद्धान्त और आदर्श केवल औपचारिक रूप से ही जीवित रह गये और कांग्रेस पार्टी स्वयं अपने को सत्ता में प्रतिष्ठित रखने के लिये व्यवहार में इन आदर्शों और मूल्यों के साथ खिलवाड़ करती रही, परिणाम सामने है ।

इतने वर्षो में क्या कुछ नहीं बिगड़ गया इस देश में ? प्रान्तीयता, क्षेत्रवाद, भाषावाद और सम्प्रदायवाद यहां तक कि राष्ट्र से अलग हटकर अलग स्वतन्त्र देश बनाने तक के कुचक्र और क्रपयास आज इस देश में देखे जा सकते हैं । सन् 1947 में जब देश बंटा था तब जिस प्रकार से साम्प्रदायिक हिंसा का ज्वार उभर कर सामने आया था आज इतने वर्षों बाद क्या हम उस प्रवृत्ति और उस तरह की घटनाओं पर कोई नियन्त्रण पा सके ? मेरठ, अलीगढ़, जमशेदपुर, भिवंडी, कोटा, अहमदाबाद के साम्प्रदायिक दंगे और इनमें होने वाली क्रूर और अमानवीय हत्याऐं किस प्रवृत्ति का संकेत करती है ? आज यदि हम पूरे देश में बड़ी मेहनत करके भी खोजें तो हमें भारतीय या हिन्दुस्तानी तो कम ही मिलेंगे पंजाबी, गुजराती, बंगाली, मराठी और तमिल अपनी पहचान को अलग-अलग रेखांकित करते हुये और उसके लिये मरते-कटते हुये जरूर मिल जायेंगे, ऐसा लगता है जैसे सम्पूर्ण देश आजादी के इतने वर्षों बाद भी एक सघन अंधकार और संकट के दौर से गुजर रहा है लेकिन ऐसा क्यों ?

वर्तमान भारतीय राजनीति में विवेक और समझदारी का एक और स्वर श्री आरिफ मुहम्मद खाँ का भी बार-बार सुनायी पड़ता है । उन्होंने संसद और संसद से बाहर अपने विचारों और तर्कों से इस देश के लोगों के सम्मुख धर्मान्धता और आतंकवाद के कारणों का विश्लेषण ही नहीं प्रस्तुत किया बल्कि एक स्वस्थ, सकारात्मक एवं धनात्मक समाधान भी प्रस्तुत करने की चेष्टा की ।

28 दिसम्बर, 3 जनवरी सन् 87 के रविवार में उनका संसद में दिया गया एक भाषण निबन्ध रूप में प्रकाशित किया गया है, जिसका शीर्षक ही है कि 'समझौता साम्प्रदायिक समस्या का हल नहीं' उन्होंने सम्पूर्ण समस्या को एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में देखने का प्रयास किया है और उन सभी ज्वलन्त प्रश्नों की तरफ

भी संकेत किया है जो भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता को सम्मान प्रदान करने से पैदा हुये हैं । उनके विचार और तर्क इतने संगत और सार्थक लगते है कि उनके ही शब्दों में प्रस्तुत करना संगत लगता है ।

'आतंकवाद की समस्या एक ऐसी समस्या है' जिसने देश की एकता और अखण्डता के सम्मुख प्रश्नचिन्ह लगा दिया है ।

श्रीमान, खुड़ा में 24 मासूम व्यक्तियों का मारा जाना अत्यन्त दुखद घटना है किन्तु यह दुर्घटना मात्र संकेत है । अलामत है उस बीमारी की जिससे हम ग्रसित है और यह बीमारी क्या है ? मैं मानता हूँ कि यह बीमारी बहुत पुरानी है यह बीमारी है, जो राजनीति को साम्प्रदायिकता का आधार देने से पैदा होती है । अतः राजनीति के रथ में साम्प्रदायिकता के घोड़ों को जोतने से रोकना होगा । आज पूरे देश में गंभीर वातावरण है, चिन्ता है लेकिन मैं मानता हूँ कि यह चिन्ता केवल 24 व्यक्तियों के मारे जाने पर ही नहीं होनी चाहिये बल्कि उस वक्त होनी चाहिये जब साम्प्रदायिक राजनीति करने वाले कहीं भी सिर उठाते हैं ? जब साम्प्रदायिक तत्वों को सम्मान या विश्वसनीयता देने का प्रयास होता है, उन्हें राजनीतिक महत्व देने की कोशिश होती है । मैं यह इसलिये कहता हूँ क्योंकि यह समस्या आज की उपज नहीं है । इन शक्तियों के हाथों यह देश पहले भी तोड़ा जा चुका है और हम यह बात याद रखे कि जो कौम या राष्ट्र इतिहास के दिये हुये सबक याद नहीं रखता वहां इतिहास अपने आपको दोहराने पर मजबूर होता है । यदि हम इतिहास से सबक लेंगे, तो यह जान जायेंगे कि समझौते और तुष्टिकरण के माध्यम से साम्प्रदायिक शक्तियों को न तो संतुष्ट किया जा सकता है और न ही नियन्त्रित, बल्कि इसके नतीजे में साम्प्रदायिक तथा अलगावदी शक्तियाँ और अधिक खतरनाक होकर उभरती है ।

श्रीमान मैं आपके माध्यम से माननीय सदन को बताना चाहूँगा कि वर्ष 1961 में लोकमान्य तिलक और मुहम्मद अली जिन्ना के मध्य एक समझौता हुआ था, जिसको 'लखनऊ समझौता' के नाम से जाना जाता है । इस समझौते में मुस्लिम लीग की लगभग सभी मांगों को पृथक प्रतिनिधित्व सहित मान लिया गया था । इस समझौते के पश्चात लोकमान्य तिलक जैसे राष्ट्रवादी नेता ने जिनकी नियत पर संदेह नहीं किया जा सकता कहा था कि इस समझौते के माध्यम से भारत की साम्प्रदायिक समस्या का हमेशा के लिये समाधान ढूँढ लिया गया है । किन्तु इतिहास ने बताया कि इस समझौते से साम्प्रदायिक समस्या का समाधान नहीं, बल्कि साम्प्रदायिक आधार पर इस देश के बटवारे के बीज बोये गये थे । मैं मानता हूँ कि कोई समझौता, कोई रियायत साम्प्रदायिक तत्वों को सदैव संतुष्ट नहीं रख सकता ।

अध्यक्ष महोदय, इस सन्दर्भ में मैं एक उद्धहरण देना चाहूँगा । हमारे स्वतन्त्रता संग्राम के अग्रणी नेता मोतीलाल नेहरू अपने भाषण में कहते है कि धर्म की उच्चतर संकल्पना जैसी भी हो, आज जो रूप वह हमारे दैनिक जीवन में ले चुका है वह है कट्टरपन, हठधर्मिता, असहनशीलता, विचारों की संकीर्णता, स्वार्थपरता और स्वस्थ समाज के निर्माण के लिये आवश्यक बहुत से गुणों का अभाव । जो इसे नहीं मानता उसके प्रति घृणा करना इसकी मुख्य प्रेरणा है ।

आखिर में इस बीमारी का उपचार बताया गया है । राजनीति के साथ इसके मेल मिलाप हो जाने से किसी का भी भला नहीं हुआ । धर्म का स्तर घट गया है और राजनीति दलदल बन गयी है । यह एक दूसरे से अलग हो जायें, वही एक उपचार है । [1]

---

1. रविवार 28 दिसम्बर, 03 जनवरी खुड़ा हत्याकाण्ड पर लोकसभा में दिया गया भाषण "समझोता साम्प्रदायिक समस्या का हल नहीं" ।
आरिफ मुहम्मद खाँ

भूतपूर्व कांग्रेसी सांसद आरिफ मुहम्मद खाँ के लोक सभा में दिये गये भाषण का उद्धहरण देने के पश्चात कांग्रेस पार्टी से ही यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या यह पार्टी पूरी ईमानदारी से आज यह कह सकती है कि उसने जिस प्रकार लोकतन्त्र समाजवाद और धर्म निरपेक्षता जैसे जीवन मूल्यों को शब्दों में स्वीकार किया उसी प्रकार उसे राष्ट्रीय जीवन में भी चरितार्थ करने का प्रयास किया निश्चय ही यदि उत्तर ईमानदारी से दिया जायेगा तो वह ऋणात्मक ही होगा ।

कांग्रेस पार्टी के अतिरिक्त जब हम दूसरे प्रमुख राजनीतिक दलों और उनके सैद्धान्तिक आदर्शों और उनके व्यवहारिक आचरण पर विचार करते हैं तो हमारे सामने सबसे पहले समाजवादी, साम्यवादी और उसके बाद देश के दक्षिणपंथी दल प्रमुख रूप से सामने आते हैं ।

आजादी के पूर्व ही सन् 1939 के आस पास कांग्रेस पार्टी में ही समाजवादी विचारों में गहन आस्था रखने वाले लोग मौजूद थे जिनमें श्री जयप्रकाश नारायण, श्री आचार्य नरेन्द्र देव, डॉ. राम मनोहर लोहिया, श्री जे. बी. कृपालानी, श्री अच्युत पटवर्द्धन श्री अशोक मेहता, श्रीमती अरूणा आसफ अली, डॉ. सम्पूर्णानन्द जी प्रमुख थे । स्वयं पंडित जवाहरलाल नेहरू इस समाजवादी खेमे के साथ ही वैचारिक एक रूपता और सहानुभूति अनुभव करते थे । स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात समाजवादी विचारों में आस्था

रखने वाले लोगों को कांग्रेस में रहकर कार्य करना दिन प्रतिदिन कठिन लगने लगा । परिणाम यह हुआ कि जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में अलग से समाजवादी दल का निर्माण हुआ और सन् 52 के प्रथम आम चुनाव में समाजवादी दल जयप्रकाश जी के नेतृत्व में अभूतपूर्व अत्साह के साथ शामिल हुआ किन्तु उसके हाथ असफलता ही आयी । सन् 52 के चुनाव की असफलता ने समाजवादी आन्दोलन को बहुत ठेस पहुँचायी और जयप्रकाश जी को तो इस असफलता से जबरदस्त धक्का लगा । समाजवादी दल ने जिस प्रकार की आशा, आकांक्षा और विश्वास को जन्म दिया था और जितने महान विचारक और नेता इस आन्दोलन के साथ जुड़े रहे उस अनुपात में यह आन्दोलन भारतीय राजनीति को गहराई तक प्रभावित नहीं कर सका ।[1] जयप्रकाश जी तो देश की राजनीति और समाजवादी दल की विफलता से कुछ इस प्रकार मायूस हुये कि उन्होंने सर्वोदय और भूदान का रास्ता पकड़ लिया ।

समाजवादी दल बार-बार टूटने और जुड़ने की प्रक्रिया में निरन्तर कमजोर होता गया और कांग्रेस के स्वस्थ विकल्प के रूप में भारतीय राजनीति में कभी पूरी शक्ति से नहीं उभर सका । जहां तक सैद्धान्तिक आग्रहों का सवाल है निश्चय ही समाजवादी दल लोकतन्त्र, धर्म निरपेक्ष और समाजवाद के आदर्शों के प्रति वैचारिक रूप से समर्पित था । किन्तु व्यवहार के स्तर पर भारतीय राजनीति में फैली हुयी नाना प्रकार की विसंगतियों और विकृतियों से अपने आपको यह दल भी बचाये नहीं रख सका । कभी यह समाजवादी दल के रूप में रहा कभी इसने प्रजा समाजवादी दल का नाम ग्रहण

Rajni Kothari, Politics in India. P. 165

किया, कभी लोहिया के नेतृत्व में इसका एक खण्ड टूटकर फिर सोशलिस्ट पार्टी के रूप में सामने आया और इतिहास के क्रम में बड़ी मुश्किल से कभी समाजवादी खेमों के पुर्नमिलन से संयुक्त समाजवादी दल का निर्माण किया गया । अपेक्षा और आकांक्षा तो इस दल से यह थी कि यह भारतीय राजनीति में लोकतंत्र, धर्म निरपेक्षता और समाजवाद के मूल्यों को अग्रसरित करने में समर्थ भूमिका का निर्वाह करेगा और सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक समता की सम्भावनाओं को और अधिक प्रशस्त बनायेगा । किन्तु भारतीय राजनीति का यह अत्यन्त दुखद तथ्य है कि इतने महत्वपूर्ण एवं महान चिन्तकों के होते हुये भी कई बार यह दल आन्तरिक विभाजन और फूट का शिकार हुआ और अपने आपको इसने हास्यास्पद स्थिति में प्रस्तुत किया । धर्म, जाति, सम्प्रदाय और भाषा सम्बन्धी संकीर्णताओं से ऊपर उठकर सैद्धान्तिक मूल्यों की राजनीति यह दल भी देश को नहीं दे पाया और व्यवहार में जिन बीमारियों और बुराईयों से कांग्रेस पार्टी पीड़ित थी, समाज वादी दल स्वयं भी उनका शिकार होता चला गया ।[1] परिणामस्वरूप देश में राजनीतिक मूल्यहीनताका वातावरण तीव्रता से विकसित हुआ और लोकतंत्र, समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता के ये तीनों महान आदर्श बहुत हद तक खोखले शब्द होते चले गये जिनका राष्ट्रीय जीवन पर कोई गहरा प्रभाव नहीं पड़ सका ।

मार्क्स और एंजिल्स के वैज्ञानिक समाजवाद के दर्शन से प्रेरित होकर विश्व के अनेक देशों में साम्यवादी दल का भी संगठन किया गया और सन् 1917 की रूस की क्रांति ने तो समाजवादी क्रांति की सम्भावनाओं को और अधिक प्रशस्त कर दिया था । दलितों और शोषितों को लेनिन में एक ऐसा मसीहा प्राप्त हो गया था जिसे न केवल मार्क्स के दर्शन में गंभीर आस्था थी बल्कि जो सर्वहारा क्रांति का एक अभूतपूर्व

---

1. Rajni Kothari, Politics in India. P. 165

अगुआ और नेता भी था । यहां हमारा उद्देश्य विस्तार से विश्व के विभिन्न देशों में समाजवादी क्रांति का लेखा-जोखा प्रस्तुत करने का नहीं है । यहां तो हम केवल दो वैचारिक विन्दुओं को रेखांकित करके आगे बढ़ना चाहेंगे ।

पहला तथ्य तो यह कि वैज्ञानिक समाजवाद के प्रणेता के रूप में मार्क्स ने धर्म को संस्थागत रूप में यथास्थितिवाद, शोषण, नियतिवाद और क्रांति की सम्भावनाओं को क्षीण बनाने वाले कारक के रूप में ही देखा था । उसने तो धर्म को मनुष्य की परिवर्तन और क्रांति की चेतना को सुलाने वाले अफीम के रूप में देखा था और इसलिये उसने एक ऐसे वैज्ञानिक समाजवाद की रूपरेखा प्रस्तुत की थी जिसके द्वारा एक समता मूलक, शोषण विहीन समाज की स्थापना की जा सके । मार्क्स ने यूरोप में धर्म को प्रभुत्व सम्पन्न वर्ग की सेवा करता हुआ पाया और उनका यह दृढ मत था कि धर्म मनुष्य को क्रांतिकारी परिवर्तन की आकांक्षा और चेतना को पीछे ही ढकेल सकता है, आगे नहीं बढ़ा सकता । यहां पर हम यूरोप में चर्च और राज्य के बीच में एक लम्बे समय तक चलने वाले संघर्ष और विवाद की तरफ मात्र संकेत ही कर सकते हैं उसका विस्तार से वर्णन करने का कोई औचित्य नहीं है ।

दूसरा महत्वपूर्ण तथ्य जिसकी तरफ संकेत करना आवश्यक है, वह यह कि भारतवर्ष में रूस की क्रांति ने एक जबरदस्त प्रभाव पैदा किया था और साम्यवादी दल की स्थापना इस देश में भी हुयी ।[1] यहां हम इस बात की तरफ संकेत मात्र करना चाहेंगे कि आजादी के बाद दूसरे राजनीतिक दलों की भांति साम्यवादी दल भी कई बार खंडित और विभाजित हुआ । पहले पूरे देश में एक ही साम्यवादी दल था

---

1. Beer, Max, 'Life & Teaching of Karl Marx.' P - 64

जिसकी बुनियादी आस्था साम्यवादी जीवन दर्शन में और उसके प्रतिनिधि चिन्तक मार्क्स, ऐंजिल्स, लेनिन आदि में थी ।[1] इस बात की तरफ संकेत कर देना भी उचित और आवश्यक लगता है कि साम्यवादी दल के पास एक ठोस जीवन दर्शन और एक वैज्ञानिक इतिहास बोध था, इस कारण इस दल का वैचारिक आधार निश्चय ही बहुत पुष्ट था । न केवल इतिहास को समझने की एक वैज्ञानिक पद्धति इसके पास थी बल्कि इतिहास को बदलने की एक क्रांतिकारी योजना भी इनके पास थी ।

मार्क्स के वैज्ञानिक चिन्तन को गहराई से स्वीकार कर लेने के बाद किसी प्रकार के धार्मिक अन्धविश्वास, रूढि और भाग्यवाद की भी कोई सम्भावना नहीं रह जाती । यह दर्शन मनुष्य को बेहतर मनुष्य बनाने में तथा सामाजिक संरचना को समता और न्यायमूलक बनाने की भी गहन प्रेरणा देता है । इस वैचारिक पृष्ठभूमि के बावजूद भी साम्यवादी दल पहले दो खण्डों में कम्युनिष्ट पार्टी तथा कम्युनिष्ट पार्टी मार्क्सवादी (सी.पी.एम.) में बंटा और बाद में मार्क्सवादी कम्युनिष्ट पार्टी की टूटन और विभाजन से उसका अधिक क्रांतिकारी हिस्सा उसी प्रकार से अलग हुआ जैसे पहले के अवसर पर कम्युनिस्ट पार्टी का अधिक क्रांतिकारी हिस्सा मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के रूप में अलग हुआ था । मार्क्सवादी, लेनिनवादी, कम्युनिष्ट पार्टी में भी अनेक छोटे छोटे समूह बनते और बिखरते रहे । नक्सली आन्दोलन के रूप में अति क्रांतिकारी कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं ने नक्सलवादी से एक प्रयोग शुरू किया जो अनेक सामयिक एवं परिस्थितिजन्य अन्तर्विरोधों के कारण जनमानस को बहुत अधिक दूर तक सफलतापूर्वक प्रभावित नहीं कर सका । अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर साम्यवादी देशों में विशेषकर रूस और चीन में बढ़ने वाले वैचारिक विरोध ने भी विश्व के साम्यवादी आन्दोलन को प्रभावित किया जिससे भारत भी अछूता नहीं रहा ।

---

1. Gray - Socialist Tradition. P - 57

साम्यवादी दल अपनी वैचारिक पृष्ठभूमि के कारण नाना प्रकार की मानसिक, धार्मिक एवं साम्प्रदायिक संकीर्णताओं से मुक्त होकर वैज्ञानिक चिन्तन से अनुप्राणित होकर धर्म निरपेक्षता के स्वस्थ और आधुनिक जीवन मूल्य को समाज में प्रतिष्ठित और अग्रसरित करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता था । किन्तु जितनी अपेक्षा और आंकाक्षा इस दल से की जा सकती थी उसकी पूरी तरह सन्तुष्टि नहीं हो सकी । भारतीय राजनीति और हमारे राष्ट्रीय जीवन में तीव्रता से विकसित होने वाली बुराईयों और संकीर्णताओं से पूरी तरह से अपने को व्यवहार के स्तर पर मुक्त साम्यवादी दल भी कैसे रख सकता था ? तो भी इस दल में आस्था रखने वाले लोगों में धार्मिक या साम्प्रदायिक कट्टरता का बहुत हद तक अभाव एक महत्वपूर्ण तथ्य के रूप में रेखांकित किया जा सकता है ।

भारतीय राजनीति में ऐसे दलों का भी विकास आजादी के बाद हुआ जिनका मूलभूत झुकाव कहीं न कहीं साम्प्रदायिक दृष्टिकोण लिये हुये था । यों तो आजादी के पहले भी अंग्रेजों ने भारत के राष्ट्रीय जीवन की प्रमुख धारा में साम्प्रदायिक विद्धेष पैदा करने के प्रयत्न किये थे ।[1] मुस्लिम लीग के रूप में भारतवर्ष के मुसलमानों को एक अलग पृथकतावादी पहचान और स्वरूप देने का प्रयास आजादी से पहले के वर्षो में किया गया था । समय समय पर अंग्रेजों ने इस देश के दो प्रमुख सम्प्रदायों (हिन्दुओं और मुसलमानों) में साम्प्रदायिक विद्धेष को गहरा करने का कोई प्रयास उठा नहीं रखा और उसी के भयंकर परिणामस्वरूप देश का दो भागों में (हिन्दुस्तान और पाकिस्तान) दुर्भाग्यपूर्ण विभाजन भी हुआ । हिन्दुओं को भी अपने तरीके से संगठित करने के प्रयास किये गये थे और हिन्दुओं तथा मुसलमानों में साम्प्रदायिक विद्धेष आजादी प्राप्ति के पहले ही अपने शिखर पर पहुँच गया था । मोहम्मद अली जिन्ना साहब ने धर्म के आधार पर ही पाकिस्तान मांगा और पाया था ।

---

1. Rajni K thari, Politics in India. P. 200

गांधी देश के विभाजन के तर्क को कभी भी न स्वीकार करते हुये अन्त में विभाजन के तथ्य को मौन रूप से स्वीकार करने के लिये बाध्य से हो गये थे । हिन्दुओं और मुसलमानों के मध्य की खाई इतनी प्रबल हो गयी थी कि आजादी के कुछ ही महीनों बाद गांधी जैसे महान व्यक्ति की अपने ही एक देशवासी के द्वारा गोली मार कर हत्या कर दी गयी थी ।

आजादी के बाद भी भारतवर्ष की राजनीति में धर्म और सम्प्रदाय के संकीर्ण मान्यताओं और मूल्यों को धुरी बनाकर राजनीति करने वाले दलों की कमी नहीं रही । राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, जनसंघ पार्टी, भारतीय जनता पार्टी, मुस्लिम लीग, शिवसेना और अकालीदल जैसे अनेक संगठन तथा दल समय समय पर अपने अपने सम्प्रदाय के लोगों की गोलबन्दी करने में लगे रहे । सम्पूर्ण राष्ट्र को किन्हीं निश्चित स्वस्थ राष्ट्रीय आदर्शों और मूल्यों को दृष्टि में रखकर एक सूत्र में संगठित करने के प्रयास के स्थान पर अलग अलग सम्प्रदायों के अलग अलग नेता अपने अपने सम्प्रदाय को संगठित करने में लग गये और परिणामतः साम्प्रदायिक सद्भाव प्रतिदिन कमजारे होता चला गया।विभिन्न सम्प्रदायों में एक दूसरे के प्रति अविश्वास और सन्देह की भावना प्रबल होती चली गयी । सम्पूर्ण राष्ट्र विघटन की प्रक्रिया का शिकार होता गया और साम्प्रदायिक आधार एवं दृष्टिकोण को लेकर काम करने वाले ये संगठन और संस्थाएं देश को निरन्तर कमजोर करती रहीं । नतीजा यह हुआ कि कहीं भयंकर साम्प्रदायिक दंगे हुये, कहीं अलग प्रदेश और फिर बात आगे बढ़ी तो अलग राष्ट्र की मांग प्रबल होती चली गयी । असम, नागालैण्ड, मिजोरम और पंजाब की समस्या कोई एक दिन में उत्पन्न होने वाली समस्या नहीं है बल्कि वह कहीं न कहीं हमारे राष्ट्रीय दृष्टिकोण की बुनियादी संकीर्णता और विफलता की प्रक्रिया का परिणाम है । आज अकाली दल, मुस्लिम लीग, भारतीय जनता पार्टी, शिवसेना या इसी प्रकार के अन्य संगठन

कहीं न कहीं राष्ट्रीय एकता और अखण्डता के विकास को व्यवहार में एक सीमा तक निश्चय ही अवरूद्ध कर रहे हैं । इस शोध प्रबंध में श्री आरिफ मुहम्मद खाँ जैसे भूतपूर्व सांसद से लेकर मधु लिमये, ए . के. राय और कमलेश्वर के विश्लेषण एवं चिन्तन को, स्थान-स्थान पर उद्धृत करने में एक शोध छात्रा के रूप में मेरा विनम्र प्रयास यही है कि हम धर्म और भारतीय राजनीति के पारस्परिक सम्बन्ध के समीकरण एवं उसमें आये हुये प्रदूषण तथा भविष्य के प्रति एक स्वस्थ एवं स्पष्ट दिशा बोध को भी प्रस्तुत कर सकें । हिन्दी के एक संवेदनशील कथाकार कमलेश्वर ने सम्प्रदायवाद एवं धार्मिक उन्माद से जलते हुये इस देश की वर्तमान दुखद स्थितियों के बारे में रविवार में अपने विचार अत्यन्त गंभीरतापूर्वक इन शब्दों में व्यक्त किया है ।[1] एक बहुत बड़ी राष्ट्रीय गलती की शुरूआत आज से चालीस वर्ष पूर्व हुयी थी और वह गलती थी, साम्प्रदायिक एवं धार्मिक दलों को दी गयी राजनीतिक प्रतिष्ठा ।

पंजाब के एक समय के हालात इस बात का सबूत है कि साम्प्रदायिक और धार्मिक दलों, समुदायों को मिली राजनीतिक प्रतिष्ठा और उस प्रतिष्ठा से बनी राजनीतिक सरकार कितने भयानक नतीजों तक इस देश को धकेल सकती है ।

साम्प्रदायिक और धार्मिक पार्टियों या दलों से किये गये समझौते धर्म निरपेक्ष राजनीतिक और सामाजिक संरचना के लिये कभी कारगर नहीं हो सकते । धार्मिक और साम्प्रदायिक आधार पर बनने वाली सरकारें राष्ट्रीय एकता और राष्ट्र शक्ति का विकल्प नहीं बन सकती । यदि बन सकती होती, तो लोगोंवाल - राजीव गांधी समझौता और बरनाला सरकार दोनों सफल होते ।

---

1. रविवार 28 दिसम्बर, 3 जनवरी 1987 शीर्षक "यह लड़ाई सिखों की हिन्दुओं से नहीं, खालिस्तानियों की हिन्दुस्तानियों से है" श्री कमलेश्वर

श्री कमलेश्वर की आज के हालात पर की गयी टिप्पणी अपने आप में अत्यन्त संगत एवं सार्थक है कि स्वतंत्रता के उन्चास वर्षो बाद भी वास्तव में हमनें हिन्दुस्तानी पैदा ही नहीं किये, हमने तो हिन्दू, सिख, मुसलमान, इसाई और पारसी पैदा किये है । समाधान प्रस्तुत करते हुये कमलेश्वर ने एक अत्यन्त जागरूक एवं गंभीर नागरिक की भांति अपने दृष्टिकोण को इन शब्दों में व्यक्त किया है ।

अब इन हिन्दू, मुसलमान, सिख, इसाई और पारसी को हिन्दुस्तानी में बदलने का ही एक ही रास्ता है और यह कि और ज्यादा देर होने से पहले साम्प्रदायिक दलों और संगठनों को राजनीतिक अधिकारों से वंचित किया जाये और इन दलों पर पाबंदी लगायी जाये फिर वह चाहे अकाली दल हो, जमाने इस्लामी, हिन्दू महासभा या मुस्लिम लीग हो तथा सभी धर्मो को उनके मंदिरों, मस्जिदों, गुरूद्वारों, गिरिजाघरों में वापस भेजा जाये, जिससे वे आराम एवं शान्ति से अपना जीवन व्यतीत करें और इस धर्म निरपेक्ष देश के लिये अशान्ति अलगाव और आतंकवाद का कारण न बने । यह साहसपूर्ण राजनैतिक फैसला आज लिया जाना चाहिये और यह फैसला ही तात्कालिक राजनीतिक हल का वाहक बनेगा एवं आने वाला इतिहास इस राजनीतिक राष्ट्रीय फैसले का अनुमोदन करेगा ।

अतः यह स्पष्ट है कि राजनेताओं द्वारा जिस तरह वोट बैंक को मुख्य मुद्दा बनाकर राजनीति की जा रही है, उससे समस्याऐं सुलझने के बजाय विक्रत रूप लेती जाती है । विश्वनाथ प्रताप सिंह की सरकार द्वारा जल्दबाजी में घोषित नयी आरक्षण नीति ने भी समाज को जाति विभाजन के कगार पर पहुँचा दिया । उन्होंने स्वतंत्रता दिवस पर लालकिले की प्राचीर को चुनावी मंच में बदल दिया । अपने भाषण में उन्होंने मंडल रिपोर्ट को लागू करने का वादा दोहराया, बाबा साहेब अम्बेडकर का नाम लेकर हरिजनों के नाम अपील जारी की तथा हजरत मुहम्मद के जन्मदिन पर सरकारी छुट्टी की घोषणा करके मुसलमानों को खुश करने की कोशिश की ।

सत्ता के भूखे पहले के नेताओं की भांति वे भी अब वोट व सत्ता के भूखे उस नेता की तरह दिखने लगे हैं जो देश को बांटने वाले जाति और धर्म के हथकण्डों का सहारा लेने में कोई शर्म महसूस नहीं करता । यह सही है कि उनकी पार्टी ने मंडल रिपोर्ट लागू करने का चुनावी वायदा किया था किन्तु एक अघोषित समझदारी भी थी कि इसे लागू करने से पहले राय मशविरा किया जायेगा । इसलिये इस फैसले की घोषणा करने का जो अवसर चुना गया उससे जाहिर हो गया कि राजनेता इस मुद्दे को कितने छिछले तरीके से लेते हैं ।

7 अगस्त को मंडल रिपोर्ट को लागू करने की घोषणा होते ही चारों तरफ अशान्ति एवं अराजकता व्याप्त हो गयी । उत्तर भारत के अधिकांश इलाकों में आरक्षण विरोधी आन्दोलन चल पड़ा । आक्रोश और हताशा की इंतहा उस समय हो गयी, जब दिल्ली के देशबन्धु कालेज के छात्र राजीव गोस्वामी ने अपने को फूंक डाला । आत्मदाह की यह घटना अकेली नहीं है, हरियाणा, राजस्थान, उत्तर प्रदेश इत्यादि राज्यों में भी छात्रों ने ऐसे आत्महन्ता कदम उठाये । आत्मदाह को वाजिब ठहराना और उसे गौरवमंडित करना कोई नहीं चाहता लेकिन इसके लिये जिम्मेदार कौन है ? व्यक्ति कानून को हाथ में तभी लेता है, जब कानूनी रास्तों पर राजहठ का ताला डाल दिया जाता है । सर्वानुमति से शासन करने का ढोल पीटने और टकराव के बजाय वार्तालाप से समाधान तलाशने का शोर करने वाली सरकार क्या इतना लोकतांत्रिक मुलाहिजा भी नहीं दिखा सकती कि छात्रों की बात सुनने के लिये उनको बुला लें । हताशा की घुटन निकालने के लिये वार्तालाप की खिड़की तो खोलनी ही चाहिये । भले ही उनकी बात न मानिये किन्तु उनको अपने तर्क से निहत्था करने का नैतिक साहस तो होना चाहिये । लोकतंत्र में राजहठ नहीं, जनहठ चलता है, किन्तु राष्ट्र लहूलुहान है और सरकार टस

से मस नहीं हुयी, अतः यह स्पष्ट है कि सर्वोपरि राष्ट्र नहीं दल है वोट है । आरक्षण का विरोध करने वाले छात्र-छात्राओं में सभी अमीर ऊंची जातियों के ही छात्र नहीं थे और न ही वे वास्तविक रूप से वंचित लोगों अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिये आरक्षित कोटे का विरोध कर रहे थे । आरक्षण विरोधियों में अधिकांश मध्यम या निम्न मध्यम वर्गीय परिवारों के लडके लड़कियां हैं जिनके लिये शिक्षा बेहतर भविष्य का साधन और उम्मीद है । अचानक इस उम्मीद पर उन्हें पानी फिरता नजरआया । अपना भविष्य उन्हें उस दुनिया के लिये गिरवी रखा जाता नजर आया जिसमें उन गुटों को जाति और आरक्षण के जरिय नये विशेषाधिकार हासिल होंगे जो अभी ही गांवों और शहरों में पर्याप्त राजनैतिक और आर्थिक दबदबा रखते हैं यह विशेषाधिकार विभाजन और कटुता की उन भावनाओं को और भड़कायेगा जो इस देश को हमेशा से कमजोर करती रही है ।

समस्या की जड़ भी यही है । सवाल केवल चन्द नौकरियों का ही नहीं है, कुछ बड़े मुद्दे भी दांव पर लगे हैं । आजादी के पश्चात् यह देश धीरे धीरे यह सोचने लगा था कि भूमि सुधारों आर्थिक प्रगति, शहरीकरण और राजनैतिक प्रक्रिया के कारण शोषित लोगों की बढ़ती ताकत और शिक्षा के कारण बढ़ती सामाजिक जागरूकता के चलते जातिवाद एवं सम्प्रदायवाद का असर घटता जा रहा है किन्तु यह कौन जानता था कि इस देश की जनचेतना में जातीय भावना को पुर्नजीवित करने का कार्य कोई और नहीं बल्कि इस देश का प्रधानमंत्री ही करेगा ।

किन्तु कुल मिलाकर यह चुनावी खेल का ही एक हिस्सा नजर आता है । भारतीय नेता पिछले चालीस वर्षो से जाति और मजहब का खेल खेलते रहे हैं किन्तु मतदाता उनकी चालों को प्राय अपने विवेक से विफल करते रहे हैं । इसलिये

यह उम्मीद बंधती है कि वे राजनेताओं के इस राजनैतिक खेल को भी विफल कर देंगे । जनता हमेशा साफ और सीधा फैसला सुनती आयी है किन्तु नेता हमेशा लोगों को कमजोर और निराश करते रहे हैं । पिछले 49 वर्षो से नेतागण ऐसा आचरण करते रहे हैं, जैसे यह देश उनकी निजी जायदाद हो और वे उसे परिणाम की चिन्ता किये बिना इस्तेमाल करते रह सकते हैं । आरक्षण का तत्कालीन फैसला उनकी इस मान्यता को ही उजागर करता है कि जातिवाद एवं सम्प्रदायवाद को वे दुधारू गाय की तरह दुह सकते हैं ।

राजनाथ सिंह ने अपने एक लेख **'आरक्षण वोट बैंक के मोह में फंसी राजनीति'**[1] में अपने विचार व्यक्त करते हुये लिखा है कि देश के सम्मुख जो भी संकट आते हैं, उसका आम सहमति बनाकर ही सामना किया जा सकता है । आज चाहे कश्मीर की समस्या हो, पंजाब की, असम की, आर्थिक संकट की या फिर आरक्षण की आम सहमति बनाकर राष्ट्रीय हित में एक समान नीति पर पहुँचना नितान्त आवश्यक है । किन्तु जो सत्ता में बैठता है, वह आम सहमति की बात तभी करता है जब उसका इरादा दूसरों के कन्धे पर बोझ डालने का होता है । जहां दलीय हित होता है, वह श्रेय लेने या लाभ उठाने की नियत से प्रेरित रहता है । नरसिंह राव ने कांग्रेस के हित को ध्यान में रखकर पंजाब के चुनाव रद्द कर दिये क्योंकि उनकी पार्टी ने उसमें उम्मीदवार नहीं खड़े किये थे और वी.पी. सिंह ने अपनी पार्टी तक को विश्वास में लिये बिना मंडल आयोग की संस्तुति ज्यों की त्यों लागू करने की घोषणा कर दी थी क्योंकि कुर्सी खिसकती नजर आ रही थी । किन्तु हम यहाँ आम सहमति के मुद्दे पर चर्चा करना विषय संगत नहीं समझते । हम यहां यह भी चर्चा नहीं चलाना चाहते कि

---

1. राजनाथ सिंह - आरक्षण वोट बैंक में फंसी राजनीति, नवभारत टाइम्स (21.9.91)

क्या आम सहमति का दायरा सिर्फ राजनीतिक दलों तक ही रहना चाहिये या फिर राष्ट्रीय आम सहमति का कोई और भी मापदण्ड होना चाहिये।

मैं यहां आरक्षण पर फिर से उठ खड़ी हुयी बहस और उसके बारे में राजनीतिक दलों द्वारा अपनाये जा रहे दृष्टिकोण के परिप्रेक्ष्य में आरक्षण के औचित्य पर चर्चा करना ज्यादा जरूरी समझती हूँ । क्या आरक्षण जरूरी था ? क्या उसका दायरा कम किया जाना चाहिये या बढ़ाना चाहिये ? क्या उसके वांछित परिणाम प्राप्त हुये हैं ? आरक्षण का उद्देश्य क्या था ? हमारे मूर्धन्य नेताओं ने यह अनुभव किया कि देश की हजार साल गुलामी के काल में भेदमूलक प्रवृत्ति का बोलबाला हुआ और इन सबके परिणाम स्वरूप एक बड़ा वर्ग गरीबी, उत्पीड़न और अज्ञानता का शिकार हो गया है । इस वर्ग को जब तक समाज के अन्य वर्गो के समकक्ष नहीं लाया जायेगा , आजादी प्राप्त करने का उद्देश्य पूरा नहीं होगा, सामाजिक समता स्थापित नहीं होगी । संविधान बनने पर इस अवस्था में जो वर्ग रह गये थे उनकी एक सूची बनायी गयी और इस आधार पर उन्हें अनुसुचित जाति के नाम से पहचाना जाने लगा । यह व्यवस्था की गयी कि इस वर्ग को विशेष अवसर दिये जायें जिससे वह अन्य वर्गो के समकक्ष आ सकें । इनके लिए सेवा प्राप्त करने की शर्तो में छूट दी गयी । योग्यता और पात्रता के स्थान पर उदारता को मापदण्ड बनाया गया । योग्यता के मापदण्ड ही नहीं हटाये गये बल्कि स्थान भी आरक्षित किये गये ।

अतः जो आरक्षण समाज के कमजोर दलित वर्ग को पूरे समाज में समरसता युक्त होने की क्षमता अर्जित करने के लिए बतौर सुविधा के लिए दिया गया

था, उसे अब सत्ता में बने रहने या आने के लिये बतौर उत्कोच के दिये जाने की होड़ लगी हुयी है ।

राष्ट्रीय मुद्दों पर राष्ट्रीय आम सहमति आवश्यक है । आरक्षण अब एक राष्ट्रीय मुद्दा बन गया । इसलिये देश को एक बार सम्पूर्ण आरक्षण नीति पर नये सिरे से विचार करना चाहिये । नई आरक्षण नीति बनाने से पूर्व यह भी विचार करना चाहिये कि अनुसूचित जातियों के लिये जिस उद्देश्य से आरक्षण नीति लागू की गयी थी, उसके वांछित परिणाम प्राप्त हुये हैं अथवा नहीं । यदि नहीं हुये हैं तो क्यों ? क्या नीति के क्रियान्वयन में कोई दोष है या जैसा कि आरोप लगाया जाता है कि कुछ लोग-कुछ वर्ग विशेष के लोग उसमें बाधक बन रहे हैं ? क्या संविधान लागू होने के इतने वर्षो बाद भी इस नीति को मूल रूप में ही लागू रखना चाहिये या उसमें संशोधन की आवश्यकता है । इन 49 वर्षो में इस नीति का लाभ गांव झोपड़ी तक के इंसान को क्यों नहीं मिल पा रहा है ? क्या कारण है कि कुछ ही परिवारों में ही यह सुविधा सिमट कर रह गयी है ? आज जब हम आर्थिक आधार पर अन्य वर्गो में भी आरक्षण की बात कह रहे हैं तो क्या इस वर्ग के लिये आरक्षण की सुविधा को आर्थिक आधार नहीं दिया जाना चाहिये जिससे जो आम अनुसूचित जाति का व्यक्ति अभी भी दबा और पिछड़ा है, वह ऊपर आ सके । क्या यह उपयुक्त नहीं होगा कि अनुसूचित जातियों के लिये आरक्षण नीति में ऐसा संशोधन किया जाये कि इस नीति का एक परिवार को एक या दो बार से अधिक लाभ नहीं मिलेगा ।

पिछड़ापन मुख्य रूप से आर्थिक स्थिति पर आधारित है । इसीलिये यह कहा जा सकता है कि गरीबी स्वयं में एक वर्ग है । अनुसूचित जाति का आई.ए.एस. अधिकारी अपने बच्चों को वहीं पढ़ाता है जहां तथाकथित सवर्णो के उसी सेवा संवर्ग के बच्चे पढ़ते हैं । दोनों ही वर्ग अपने गरीब जाति वालों से दूर रहते हैं । सम्मान

तिरस्कार और सांमजस्य तीनों में समान आचरण करते हैं । इन वर्गो के गरीबों को एक समान व्यवहार का सामना करना पड़ता है तो फिर उनके लिये समान नीति क्यों न बनायी जाये । गरीबी जाति नहीं, दशा है । शोषण वर्ग नहीं वृत्ति है । इसलिये आरक्षण उत्कोच नहीं सुविधा के रूप में लागू होना चाहिये तभी उसका वांछित परिणाम प्राप्त होगा ।

इसलिये यह जरूरी है कि आरक्षण पर सम्यक विचार के लिये राजनीतिक मंच तैयार किये जायें । विश्वविद्यालय इसमें प्रमुख भूमिका निभा सकते हैं । प्रभावशाली नारों के स्थान पर बैठकर विचार विमर्श किया जाये । तथाकथित राजनीतियों की भांति दूसरे की नियत पर संदेह किये बिना खुले मन से बहस हो । अधिवक्ताओं, व्यापारियों, सामाजिक संगठनों को अपने-अपने फोरम पर इस नीति की वैज्ञानिकता पर चर्चा करनी चाहिये और ऐसे निष्कर्ष का जनमत तैयार करना चाहिये जो आरक्षण प्रदान करते समय की अवधारणा पर आधारित हो । अर्थात समाज में जो पिछड़े हैं, दबे हैं उन्हें शेष समाज के साथ बराबरी पर कैसे खड़ा किया जाये, जो नीतियां, कार्यक्रम, चाहे उसमें आरक्षण भी न शामिल हो, शोषण की वृत्ति को बढ़ावा देती है, विभेदकारक हैं, समतायुक्त समाज बनाने में बाधक हैं, उन्हें छोड़ा जाये । जब गैर राजनीतिक मंचों से यह प्रयास प्रभावशाली होगा तो राजनीतिक दल भी वोट-बैंक की राजनीति छोड़ने पर विवश होंगे । स्वार्थ के मोह में फंसे या फंसा दिये गये लोगों को समृद्ध राष्ट्रीय भावना का दृष्टिकोण ही प्रभावित करके, सही रास्ता अपनाने की सन्नद्धता प्रदान कर सकता है ।

भारतीय राजनीति में धर्म, जाति, सम्प्रदाय तथा वर्ग जैसे तत्वों का असर दिन पर दिन गहरा होता जा रहा है और भारतीय राजनीति पूरी तरह से इसके पाश में बंधी हुयी है । नानाजी देशमुख ने जनसत्ता में प्रकाशित अपने लेख इस धर्मनिरपेक्षता

पर फिर से सोंचे में काफी गहराई से भारतीय राजनीति में प्रबल होती इन स्थितियों का विश्लेषण किया है ।[1]

उनके अनुसार वोट और सत्ता की वर्तमान राजनीति में लगभग अट्ठाइस साल तक सक्रिय भाग लेने के दौरान मैने इस राजनीतिक प्रणाली में विद्यमान विघटन कारी और भ्रष्टाचारी प्रवृत्तियाँ को निकट से देखा और अनुभव किया । इस विघटनात्मक राजनीति का विकल्प खोजने की इच्छा ही मुझे लोकनायक जयप्रकाश नारायण के सम्पूर्ण क्रांति आंदोलन में खींच ले गयी । उस आन्दोलन ने केन्द्र में सत्ता परिवर्तन का चमत्कार घटित किया, पर वह अपने मूल उद्देश्य की प्राप्ति में विफल रहा। अतः मैने सत्ता राजनीति से सन्यास लेकर स्वयं को सामाजिक-आर्थिक पुर्नरचना की मौन कर्म-साधना में जुटाने का निश्चय किया और 8 अक्टूबर, 1978 को पटना में जयप्रकाश जी की उपस्थिति में अपने निर्णय की सार्वाजनिक घोषणा कर दी ।

किन्तु पिछले कुछ महीने की घटनाओं ने मेरी एकाग्रता को भंग कर दिया । एक ओर जल्दबाजी में घोषित नयी आरक्षण नीति ने समाज को जाति विभाजन के कगार पर धकेल दिया है और दूसरी तरफ कृत्रिम रूप से उत्पन्न साम्प्रदायिक तनाव का वातावरण सभी तरफ फैल रहा है । विशेषकर गोंडा जिले में जो भयानक साम्प्रदायिक नरमेध हुआ, उसने मुझे पूरी तरह हिला कर रख दिया । सबसे अधिक आघात मुझे उस समय लगा जब मैं एक रचनात्मक कार्यकर्ता-निर्दोष नागरिकों की लाशों पर उनके पाशविक नृत्य का असहाय मूक दर्शक ही बना रह गया ।

---

1. नानाजी देशमुख 'इस धर्म निरपेक्षता पर फिर से सोचे,' जनसत्ता- 21.11.90

काफी समय से मेरे मन में यह प्रश्न उठता रहा है कि जब हम स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से निरन्तर राष्ट्रीय एकता धर्मनिरपेक्षता, साम्प्रदायिक सद्भाव, जातिविहीन समाज, सामाजिक न्याय आदि की लम्बी चौड़ी बातें करते आ रहे हैं तो फिर हम उससे बिलकुल विपरीत दिशा में बहते हुये क्यों दिख रहे हैं ? निश्चय ही कहीं न कहीं कुछ भूल हो रही है । या तो हम इन आदर्शों के प्रति पूरी तरह से ईमानदार नहीं है । अथवा इन ऊंचे ऊंचे शब्दों के सार तत्व के बारे में किन्हीं गलत और विक्रत अवधारणाओं के बन्दी बने हुये हैं । जहां तक आदर्शो के प्रति ईमानदारी का प्रश्न है, लम्बे समय तक इस राजनीतिक प्रणाली का सक्रिय अंग रहने के कारण मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ, कि हमारा नेतृत्व अपनी चुनाव राजनीति और वोट गणित का पूरी तरह गुलाम बन चुका है । इस भारी भरकम शब्द जाल की आड़ में उसके प्रत्येक राजनैतिक और शासकीय निर्णय का एकमात्र लक्ष्य अपने तुच्छ राजनैतिक स्वार्थो की पूर्ति करना मात्र रहता है । उन्हें हर समय एक ही चिन्ता रहती है कि अपने अनुकूल वोट बैंक और वोट बैंकों का गठबन्धन कैसे तैयार किया जाये । उनकी यह धारणा बन गयी है कि मुस्लिम समुदाय ही थोक वोटों का सबसे बड़ा और पुख्ता आधार बन सकता है, क्योंकि मुस्लिम मतदाता आमतौर पर मजहबी आधार पर अपने वोट का प्रयोग करते हैं, जबकि राजनैतिक स्तर पर हिन्दू चेतना जाति, भाषा और क्षेत्र के आधार पर बिखर जाती है । इसलिये ये राजनैतिक नेता एक ओर तो धर्मनिरपेक्षता के नारे की आड़ में **बहुसंख्यक साम्प्रदायिकता और हिन्दू आक्रामकता** का भय खड़ा करके मुसलमानों की साम्प्रदायिक भावनाओं को भड़काने का प्रयास करते हैं, दूसरी तरफ हिन्दू वोटों को बटोरने के लोभ में वे जातिवाद, भाषावाद और क्षेत्रवाद को उभारने की पूरी कोशिश करते हैं ।

वस्तुतः उनकी धर्मनिरपेक्षता का अर्थ 'हिन्दू निन्दा' से अधिक कुछ नहीं है और उसका स्वरूप हमेशा नकारात्मक रहा है, जबकि जातिवादी, भाषाई मजहबी और

क्षेत्रीयतावादी दलों से गठबंधन करने में उन्हें तनिक लज्जा नहीं आती । संक्षेप में यदि कहा जाये तो, साम्प्रदायिक फूट और समाज के जातीय विघटन में इन राजनीतिज्ञों का निहित स्वार्थ उत्पन्न हो गया है और सत्ता राजनीति के अपने घिनौने खेल पर पर्दा डालने के लिये वे इन ऊंचे ऊंचे शब्दों का दुरूपयोग करते रहते हैं ।

'बहुसंख्यक साम्प्रदायिकता' और 'हिन्दू आक्रामकता' का कोसते समय 'नकली धर्मनिरपेक्षवाद' से ये अति उत्साही ठेकेदार यह भूल जाते हैं कि इसी 'बहुसंख्यक समुदाय' ने अपनी मातृभूमि के विभाजन से उत्पन्न अत्यन्त हृदय विदारक और उत्तेजनापूर्ण वातावरण के काल में भी विभाजन के लिये उत्तरदायी मुस्लिम अल्पसंख्यकों को अपने खंडित घर में न केवल बसे रहने दिया था, बल्कि स्वाधीन भारत के संविधान में 'धर्म निरपेक्षता' के आदर्श को प्रतिष्ठित किया था । इतिहास का यह एक दुर्भाग्यपूर्ण तथ्य है कि विभाजन के बाद **'इंडिया देट इज भारत'** नाम धारण करने वाले भूखंड में रहने वाले मुसलमान ही 'पाकिस्तान आंदोलन' में सबसे आगे थे और इन्होंने ही अपने हिन्दू भाइयों की दृढ इच्छा और लगातार कोशिशों के विरूद्ध ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के साथ सांठ गांठ करके मजहब के आधार पर मातृभूमि के विभाजन का गहरा घाव किया था ।

यही **'हिन्दू आक्रामकता'** है, जिसने अपनी छाती में लगे इस ताजे घाव को सहकर भी अपने मुस्लिम बंधुओं को स्वाधीन भारत के संविधान में अपने से भी अधिक अधिकार प्रदान किये । बहुसंख्यक हिन्दू समाज के इस आचरण के पीछे न तो कोई मजबूरी थी और न ही इसका कोई कारण अंग्रेजी पढ़े लिखे पश्चिमी भक्तों के छोटे से वर्ग को माना जा सकता है । यह असामान्य निर्णय हिन्दू समाज की युगों युगों से चली आ रही उस दार्शनिक आस्था की सहज अभिव्यक्ति मात्र थी जिसे वैदिक ऋषियों ने

'एकम् सद् विप्रा' बहुधावंदति में व्यक्त किया था और जिसके कारण हिन्दू मानस उपासना स्वातन्त्र्य के आदर्श के प्रति अर्थात सभी उपासना पद्धतियों के प्रति समान आदर भाव के प्रति सदैव समर्पित रहा है ।

ये नकली धर्मनिरपेक्षतावादी यह भी भूल जाते हैं कि देश के भीतर एवं बाहर सब प्रकार की उत्तेजनाओं के बावजूद भारत यदि आज तक धर्म निरपेक्षता के आदर्श पर दृढ है तो उसका कारण यह 'हिन्दू परम्परा' और 'हिन्दू मानस' ही है, जिसे वे दिन रात कोसते रहते हैं । क्या उन्होंने कभी यह सोचा है कि क्या कारण है कि पाकिस्तान अपने जन्मदाता मुहम्मत अली जिन्ना द्वारा पाकिस्तान संविधान सभा में की गयी घोषणा की उपेक्षा करके और बांगलादेश अपने मुक्तिदाता शेख मुर्जीबुर्रहमान द्वारा निर्मित संविधान को रद्दी की टोकरी में फेंककर इस्लामी राज्य क्यों बन गये ?

एक ही ऐतिहासिक भूखण्ड के इन तीन भागों के आचरण में इस भारी अन्तर पर ध्यान दें । तो इस प्रश्न का उत्तर भी मिल सकता है कि पिछले 49 वर्षों से सेक्युलर वाद . का दिन रात आलाप होने के बाद 'धर्मनिरपेक्षता' की अधिकांश आवाजें आज भी हिन्दू समाज के भीतर से ही क्यों उठती हैं, जबकि मुस्लिम समाज के अन्दर धर्मनिरपेक्षतावादियों की संख्या को उंगलियों पर ही गिना जा सकता है । इसमें संदेह नहीं है कि कुछ सदाशय मुस्लिम बन्धु है जिनकी वाणी और व्यवहार में सच्ची धर्म निरपेक्ष भावना प्रकट होती है । किन्तु वे स्वयं को अपने समाज के अन्दर सर्वथा प्रभावहीन और अलग थलग पाते हैं क्योंकि उनका समाज बहुधा उन कट्टरपंथियों के प्रभाव में वह जाता है जो उन्हें आत्मालोचन और सुधार के मार्ग पर बढ़ने देना नहीं चाहते । यह बात कुख्यात 'शाहबानो केस' तथा प्रख्यात लेखक सलमान रशदी के लिये ईरान द्वारा प्राणदण्ड की घोषणा से बिल्कुल साफ हो गयी है ।

यह भी पुर्णतया स्पष्ट है कि धर्म निरपेक्षता की पहल केवल एकतरफा नहीं हो सकती । हमें इस तथ्य को नहीं भूलना चाहिये कि 1885 में इंडियन नेशनल कांग्रेस के ही जन्मकाल से हमारा राष्ट्रीय नेवृत्व हमेशा इस विकट समस्या से जूझता रहा है कि मुस्लिम जनता को देश के स्वतंत्रता आंदोलन में अपने हिन्दू भाईयों का हाथ बंटाने के लिये कैसे प्रेरित किया जाये ? 1916 में लोकमान्य तिलक द्वारा आर्शीवाद प्राप्त लखनऊ समझौता और 1920 में गांधी जी एवं लालालाजपत राय द्वारा खिलाफत आंदोलन का समर्थन इस दिशा में किये गये लगातार प्रयत्नों का ही हिस्सा थे । किन्तु महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरू जैसे अत्यन्त प्रभावशाली एवं सत्यनिष्ठ नेता भी मुस्लिम जनता को अपने साथ लाने में विफल रहे, केवल कुछ गिने चुने मुसलमानों ने ही उनका साथ दिया । 1946 का चुनाव इस केन्द्रीय प्रश्न पर ही लड़ा गया कि भारत अखण्ड रहे या उसका विभाजन हो । किन्तु इस चुनाव के परिणामों से स्पष्ट है कि 99% हिन्दू मतदाताओं ने कांग्रेस के 'अखण्ड-भारत' के आव्हान का समर्थन किया तो 95% से अधिक मुस्लिम मतदाताओं ने मौलाना आजाद जैसे राष्ट्रवादी नेता की उपेक्षा करके मिस्टर जिन्ना की 'पाकिस्तान' मांग के पक्ष में अपने मत दिये थे ।

हमने अपने मन में ये धारणा बैठा ली थी कि मुसलमानों की यह अलगाववादी प्रवृत्ति अंग्रेजों की 'फूट डालो और राज करो' वाली नीति का परिणाम है । अर्थात यह अंग्रेजों द्वारा ही पैदा की गयी है । अतः हमें आशा थी कि ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के प्रस्थान एवं हिन्दू मुस्लिम आधार परदेश का विभाजन हो जाने के पश्चात् हम स्वतंत्र भारत में मुसलमानों की इस प्रवृत्ति को बदल सकेंगे और लोकतंत्र और धर्म निरपेक्षता के आदर्शों के प्रति निष्ठावान एक समग्र राष्ट्रीय सम्मान प्राप्तजीवन खड़ा करने में सफल हो जायेंगे । अपने इस आशावाद से अभिभूत होने के कारण ही हमने उन ऐतिहासिक घटनाक्रम और उन विचार धाराओं का कोई गहन अध्ययन एवं वस्तुपरक विश्लेषण करने की चेष्टा नहीं की, जिन्होंने हमारे सभी प्रयत्नों के बावजूद हमें देश

विभाजन की विनाशकारी विपत्ति में धकेल दिया । बल्कि इसके विपरीत स्वाधीन भारत द्वारा अपनायी गयी वोट राजनीति की मजबूरियों का गुलाम बनकर हमारे राजनैतिक नेतृत्व ने 'सेम्यूलरिज्म' और 'अल्पसंख्यकों की पहचान' की रक्षा के नाम पर मुस्लिम समाज में कट्टरपंथी और पृथकतावादी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन और संरक्षण देने का रास्ता पकड़ लिया । सत्ता के इस अवसरवादी खेल को बौद्धिक धरातल पर सेक्युलरिज्म का सैद्धान्तिक जामा पहनाने का जिम्मा ले लिया ।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद यह खोज करना आवश्यक था कि ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने अपनी फूट डालो और राज करो' नीति की बौद्धिक आधारशिला निर्माण करने की प्रक्रिया में किस प्रकार 'हिन्दू' शब्द को उसके मूल भौगोलिक एवं सांस्कृतिक अर्थ से हटाकर एक 'मजहब' का रूप दे दिया और 'इस्लाम' और 'ईसाई' जैसे सुसंगठित विस्तारवादी मजहबों की श्रेणी में ला बैठाया । भारतीय इतिहास के लम्बे अध्ययन से वह यह जानचुके थे कि अब 'हिन्दुत्व' शब्द उस लम्बी और अखण्ड ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिचायक नाम है, जिसने भारतवर्ष कहलाने वाले विशाल भूखण्ड पर बसे हुये मानव समूहों को उनकी समस्त विविधताओं के साथ एक केन्द्रीय सांस्कृतिक प्रवाह में सम्मिलित करके उन्हें एक समान सांस्कृतिक पहचान प्रदान की थी और इस भारत भूमि के प्रति श्रद्धा भाव से बांध दिया था । 'राष्ट्रीयता' की आधुनिक व्याख्याओं के प्रकाश में अंग्रेजों का स्पष्ट मत था कि 'हिन्दू या हिन्दूत्व' नाम से परिचित यह ऐतिहासिक प्रक्रिया ही भारत में राष्ट्रीयता की आधार भूमि है । उन्हें यह भी भली भाति ज्ञान था कि 'हिन्दु' नाम से पहचाने जाने वाले विशाल जन समाज का ऐतिहासिक विकास मजहबी आधार पर न होकर 'विविधता में एकता' के सिद्धान्त पर हुआ है । फिर भी उन्होंने जानबूझकर 'हिन्दु' या 'हिन्दू इज्म' को मजहब का रूप देकर इस्लाम या ईसाई मजहबों को उसका प्रतिस्पर्धी बनाकर उसके विरूद्ध खड़ा करने की कोशिश की ।

उन्होंने भारत के सभी प्राचीन सांस्कृतिक महापुरूषों को मजहबी प्रतीकों का रंग दे दिया। भारतीय मुसलमानों को यह समझाया गया कि मजहब के आधार पर वे हिन्दू महापुरूषों से अपना नाता तोड़कर मुहम्मत बिन कासिम, महमूद गजनबी, मुहम्मद गोरी, बाबर जैसे विदेशी आक्रमणकारियों को अपना मानें ।

इस बात से सभी वाकिफ है कि राष्ट्रीय एकता की स्थापना तब तक नहीं हो सकती जब तक प्रत्येक देशवासी के मन में अपने पुर्वजों से प्राप्त समान सांस्कृतिक विरासत के प्रति अपनत्व एवं गौरव का तथा अपनी मातृभूमि के प्रति भक्ति का भाव न हो । तभी हम अपनी सांस्कृतिक विरासत की समृद्धि और मातृभूमि की अखण्डता की रक्षा के लिये जीने मरने के समान संकल्प से अनुप्राणित हो सकते हैं ।

दुख की बात यह है कि वोट के भूखे राजनीतिज्ञों तथा धर्म निरपेक्षतावादी बुद्धिजीवियों द्वारा इस दिशा में अब तक कोई जागरूक प्रयास नहीं किया गया । यदि धर्म निरपेक्षता का अर्थ सभी पूजा पद्धतियों के प्रति समान आदर की भावना अर्थात **सर्व धर्म समभाव'** है तो यह प्रश्न कभी क्यों नहीं उठाया गया कि क्या विचारधारा के नाते इस्लाम को मानने वाले इस स्थिति को स्वीकार करने के लिये तैयार हैं ?

. सलमान रूशदी के लिये प्राणदण्ड की घोषणा का विश्व भर के मुसलमानों ने जिस प्रकार हार्दिक स्वागत किया, वह किस बात का परिचायक है ? क्या यह सोचने की जरूरत नहीं है कि इक्कीसवी शताब्दी के प्रवेश द्वार पर पहुँचकर भी सउदी अरब सहित अनेक मुस्लिम देशों से गैर मुस्लिमों के लिये धार्मिक स्वतंत्रता का अभाव और भेदकारी कानून व्यवस्था कायम क्यों है ? क्या कारण है कि इंगलैण्ड जैसे उदारवादी देश में बसे मुसलमानों की तरफ से यह मांग उठने लगी है कि एक धार्मिक सम्प्रदाय के कारण उनके लिये अलग संसद बनायी जाये ?

यदि इन सभी प्रश्नों पर गहराई से विचार किया जाता तो शायद हमारे बुद्धिजीवियों को भी भारतीय संदर्भ में धर्म निरपेक्षता की समस्या की ओर नयी दृष्टि से देखने की आवश्यकता महससू होती । तब वे इस : प्रश्न का उत्तर नये सिरे से खोजने की कोशिश करते कि क्यों मुस्लिम समस्या ही हमारे लम्बे स्वतंत्रता संघर्ष में बाधा बनकर खड़ी रही और क्यों देश विभाजन के बाद भी स्वतंत्र भारत की राजनीति भी इस समस्या के चारों तरफ घूम रही है ? यह कहना अतिश्योक्ति पूर्ण नहीं होगा कि संगठित मुस्लिम थोक वोटों ने समुची भारतीय राजनीति को अपने यहां गिरवी रख लिया है और नकली सेक्यूलरिज्म की आड़ में इन थोक वोटों को लुभाने के लिये विभिन्न राजनैतिक दलों के मध्य अंधी दौड़ लग गयी है । मातृभूमि के प्रति भक्तिभाव से साराबोर होने पर भी हिन्दू चेतना जाति, भाषा और क्षेत्र के आधार पर बंटी होने के कारण सत्ता राजनीति के बाजार में संगठित मुस्लिम वोटों के मुकाबले वोट ग्राहकों को अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पा रही हैं और इसलिये हिन्दू समाज के सम्मुख मुस्लिम पहचान की रक्षा का पुराना प्रश्न, जिसने स्वतंत्रता के पूर्व राष्ट्रवाद के सिद्धान्त का रूप धारण करके देश को विभाजन के गर्त में धकेल दिया था, पुनः विकराल रूप लेकर खड़ा हो गया है ।

अतः मेरा यह विश्वास है कि जब तक विशाल भारतीय समाज मजहब और जातिवाद के आधार पर बंटा रहेगा तब तक वह युगानुकूल समाज रचना के मूलगामी कार्य पर अपना ध्यान पूरी तरह केन्द्रित नहीं कर पायेगा । अतः इस विकट राष्ट्रीय संकट की घड़ी में प्रत्येक व्यक्ति को यह चाहिये कि वह 'राष्ट्रीयता' 'साम्प्रदायिकता' और 'धर्मनिरपेक्षता' जैसी मुलभुत अवधारणाओं के बारे में पुर्नविचार करें ताकि राष्ट्र अब तक के गतिभ्रम से बाहर निकलकर एकता व प्रगति के पथ पर आगे बढ़ सके ।

एक तरफ देश साम्प्रदायिकता, आतंकवाद, आरक्षण नीति इत्यादि अनेक कारणों से अराजकता एवं अनिश्चय के चौराहे पर खड़ा हुआ है, दूसरी तरफ नेताओं की यात्राऐं जारी है ।[1] तात्कालीन प्रधानमंत्री वी.पी.सिंह 8 अक्टूबर 1990 को मंडल यात्रा पर पटना पहुँचे । मंडल के राज्य में मंडल समर्थक राज्य सरकार द्वारा प्रायोजित विशाल रैली में उन्होंने फरमाया कि वे सदियों से उपेक्षित लोगों को सत्ता में हिस्सा दे रहे हैं, अतः मंडल विरोधी लोग उनके इस क्रांतिकारी कार्य में विघ्न न डालें । साथ ही साथ मंडल विरोधियों को भी उन्होंने ढाढसा बंधाया है कि वे चिंतित न हों, उनके लिये भी वे अनेक योजनाएं बना रहे हैं । इन योजनाओं का जिक्र करते हुये उन्होंने कहा कि देश में अनेक कोटा, परमिट और एजेंसियों हैं, जिन्हें प्रभावशील लोग हड़प लेते हैं, किन्तु अब वे इनको प्रतिभाशाली युवकों को देंगे । उन्होंने गैस, खाद इत्यादि एजेंसियों का नाम भी लिया । यह गौर करने की बात है कि गैस और खाद बेचने के लिये मूल आधार है **"प्रतिभा"** तथा सत्ता संचालन के लिये प्रमुख कसौटी है **"जाति"** ।

मंडल यात्रा के साथ एक और यात्रा जारी थी और जैसे जैसे यह आगे बढ़ रही थी, देश की धड़कने तेज होती जा रही थी । वह भी भाजपा अध्यक्ष लालकृष्ण आडवानी की रथ यात्रा । यह यात्रा उन्होंने 25 सितम्बर को सोमनाथ से आरंभ की थी और 30 अक्टूबर को अयोध्या में इसके समापन की योजना थी । 36 दिन की 10,000 मील लम्बी इस यात्रा को साम्प्रदायिक सद्भाव के लिये ही नहीं, केन्द्रीय सरकार की स्थिरता के लिये भी चुनौती माना जा रहा था । लालकृष्ण आडवानी संजीदा, संभ्रात और अनुभवी राजनेता हैं और उनसे उम्मीद की जानी चाहिये थी कि वे देश की ज्वलन्त समस्याओं को ठंडा करने में योगदान देंगे, न कि ठंडी समस्याओं को तत्काल भड़काने में उनकी भूमिका होगी । यदि हम इस विवाद में न भी पड़े कि मंदिर बनना चाहिये या

---

1. माया अक्टूबर 1990 - सामयिकी "देश चौराहे पर, नेताओं की यात्राऐं जारी है । पृष्ठ - 8

नहीं, तो इस देश की प्राथमिकता इस समय एक विवादास्पद जगह मंदिर बनाने की नहीं है बल्कि पंजाब, कश्मीर, असम समस्या सुलझाने की है । उन्हें यह घोषणा करनी चाहिये कि राष्ट्रीय मोर्चा की सरकार ने उक्त समस्याओं को सुलझाने के स्थान पर आरक्षण की एक नयी समस्या खड़ी करके देश को आग में झोंक दिया है, अतः वे रथयात्रा और 30 अक्टूबर को मंदिर निर्माण की योजना स्थगित करते हैं तथा सरकार को आगाह करते हैं कि वह 30 अक्टूबर तक इस आग को बुझाये अन्यथा भाजपा अपना समर्थन वापस ले लेगी । इस घोषणा से बुद्धि जीवियों, प्रेस और धर्मनिरपेक्ष जनता में उनकी लोक प्रियता बढ़ती क्योंकि यह वर्ग एक मत से इस रथयात्रा को धार्मिक उन्माद भड़काने वाली मान रहा था । यदि वे यह मानते हैं कि सरकार अल्पसंख्यकों के तुष्टीकरण की नीति पर बढ़ रही है, तो उसका प्रत्युत्तर बहुसंख्यकों का तुष्टिकरण नहीं है । यदि वे यह मानते हैं कि शेष लोग झूठी धर्म निरपेक्षता का नकाब ओढ़े हुये हैं, तो उन्हें सच्ची धर्म निरपेक्षता के प्रमाण प्रस्तुत करने चाहिये । यदि वे धर्म निरपेक्षता में विश्वास करते हैं, तो मात्र मंदिर निर्माण को ही अपना एकमात्र कार्यक्रम क्यों बना रखा है ? प्रतीकात्मक दृष्टि से ही सही, यदि उनको अपना दृष्टिकोण रथयात्रा के जरिये ही समझाना था, तो उनको यह स्पष्ट करने के लिये कि वे अल्पसंख्यकों की आस्था की क़द्र करते हैं, अपनी यात्रा अजमेर शरीफ से आरंभ करते ।

अतः यह स्पष्ट है कि लक्ष्य मंदिर नहीं, राजनीति था और है । भाजपा को पिछले चुनावों में तीन कारणों से अच्छी खासी सफलता हासिल हुयी थी एक राजीव विरोधी लहर, दूसरे विपक्षी एकता, तीसरे रामजन्मभूमि मसला । अतः जब वी.पी. सिंह विरोधी लहर चली भी तब भी उसका लाभ भाजपा को नहीं प्राप्त हो सकता था क्योंकि उसी के समर्थन से सरकार चल रही थी, एक के मुकाबले एक प्रत्याशी

खड़े होने की उम्मीद भी नहीं थी । शेष रह गया था हिन्दुत्व जिसकी शक्ति मंडल आयोग ने पिछड़ी जातियों को अपने पक्ष में करके कम कर दी थी ।

इसलिये भाजपा संकट में थी और इसी संकट के कारण उन्हें राम की याद आयी और जहां पहले रथ पर राम जानकी विराजमान थे उस पर स्वयं आडवाणी जी आरूढ हो गये । यद्यपि शिलान्यास में भाजपा की सीधी शिरकत नहीं थी, किन्तु अब वह मंदिर निर्माण का हरावल दस्ता बन गयी । किन्तु यह पूर्णतया स्पष्ट है कि 'लक्ष्य मंदिर नहीं बल्कि चुनाव था ।'

[1]इस सम्पूर्ण घटना चक्र में रथ रोकने की मांग तेज होने के साथ ही भाजपा ने धमकी दी कि यदि ऐसा किया गया तो भाजपा वी.पी. सिंह सरकार से अपना समर्थन वापस ले लेगी । वास्तव में पहली बार वी.पी. सिंह को लगा कि उनके सिर पर तलवार लटक रही है जो कच्चे धागे से बंधी है । जल्दबाजी में मध्यस्थता के दौर शुरू हुये और समस्या के समाधान के लिये अनेक फार्मूले बनाये जाने लगे किन्तु आखिरी फार्मूले ने वह भूकम्प ला दिया जिसका अंदेशा था । इस फार्मूले के अनुसार राम मंदिर परिसर को सरकार ने अपने कब्जे में ले लिया । सभी अभियोग समाप्त हो गये । इस कार्यवाही का मकसद यह था कि मस्जिद की इमारत को छोड़कर भूमि मंदिर बनाने के लिये प्रदान की जायेगी । किन्तु तब तक बहुत विलम्ब हो चुका था । वी.पी. सिंह और मुलायम सिंह (उ.प्र. के तत्कालीन मुख्य मंत्री) विभिन्न मुस्लिम नेताओं से इतने वायदे कर चुके थे कि अपना फार्मुला (उपाय) मनवाने की स्थिति में ही नहीं रह गये थे । मुलायम सिंह ने तो अपने आपको बाबरी मस्जिद एक्शन कमेटी के साथ इतनी गहराई से जोड़ दिया था कि अयोध्या में एक सुई भर जमीन न देने की मनस्थिति में आ

---

1. 'अयोध्या काण्ड का हिसाब-किताब' जवाहरलाल जनसत्ता - 27.11.90

गये थे । संभव है कि वी.पी. सिंह ने अब्दुल्ला बुखारी को पहले राजी . करा लिया हो किन्तु जब अध्यादेश आया तो वे भी मुकर गये । मुस्लिम नेताओं की इस बगावत से प्रधानमंत्री इतने भयभीत हो गये कि अध्यादेश वापस ले लिया गया । किन्तु इसी के साथ ही साथ समस्तीपुर में रथ रोक कर अडवाणी को गिरफ्तार कर लिया गया और भाजपा ने अपने पूर्वघोषित कथन के अनुसार वी.पी. सिंह सरकार से अपना समर्थन वापस लेकर सरकार को अल्पमत में ला दिया ।

इस महासमर का दूसरा मोर्चा उत्तर प्रदेश में लड़ा जा रहा था । यद्यपि अडवाणी का रथ तो राज्य में प्रवेश नहीं कर सका किन्तु कार सेवा का ज्वार चरम सीमा पर पहुँच गया था । आजादी के बाद सबसे व्यापक पुलिस बन्दोबस्त और पूरे राज्य की नाकेबंदी के बाबजूद जो कुछ हुआ, वह अब जगजाहिर है ।

अयोध्या में 30 अक्टूबर को जो कुछ हुआ उसने मध्ययुग की किसी घटना का आभास करा दिया । मध्य युग में ईसाइयों ने जिस जुनून के साथ यरूसलम को मुसलमानों से मुक्त कराने की कोशिश की थी, वैसा ही कुछ अयोध्या में छोटे पैमाने पर किया गया । यहां इस जुनून का नेतृत्व कट्टरपंथी विश्व हिन्दू परिषद् (विहिप) कर रही थी और दांव पर लगी थी पुरानी विवादास्पद बाबरी मस्जिद जिसकी अक्षुण्णता की रक्षा करना प्रधानमंत्री वी.पी. सिंह ने धर्मनिरपेक्षता की रक्षा का पर्याय मान लिया था और इसके लिये उन्होनें अपना राजनैतिक अस्तित्व भी दांव पर लगा दिया ।

किन्तु उस तारीख (30 अक्टूबर) के गुजरने के बाद नतीजे के रूप में जो कुछ हासिल हुआ वह यह था - 12 लोग मारे गये, हजारों लोग घायल हुये जिनमें विहिप के प्रमुख अशोक सिंघल भी थे जो लाठीचार्ज में घायल हुये और देश जैसे

शुद्धिकरण के आन्दोलनों को झेलने के लिये अभिशप्त हो गया । कार सेवकों की उन्मादी लहर से सम्पूर्ण व्यवस्था (अध्योध्या में 18,000 अर्द्धसैनिक और पूरे राज्य में 2,65,000 पुलिस के साथ-साथ नागरिक प्रशासन भी) चरमरा गयी । "जय सियाराम" तथा "बच्चा-बच्चा राम का" के नारे लगाते हुये कार सेवक सुरक्षित क्षेत्र में घुस गये और मस्जिद के गुंबज पर विजय पताका फहरा दी । पुलिस ने लाठी चार्ज, रबड़ की गोली, आँसू गैस सभी का सहारा लिया और अन्त में सुरक्षा बलों ने लगभग बगावत करते हुये भीड़ को रोकने का आदेश मानने से इंकार कर दिया । बांध टूट गया और करीब 500 लोग मस्जिद क्षेत्र में घुस गये । उन्होंने मस्जिद के कुछ हिस्सों को क्षतिग्रस्त किया और इस प्रकार कार सेवा की विकृत शुरूआत हुयी ।

यद्यपि विवादस्पद स्थल से कार सेवकों को हटा दिया किन्तु भीड़ काफी खण्डित हुयी और कुछ एक मूल्य धाराशायी हो गये । यदि हम जनता दल को ही लें तो केन्द्र में पार्टी दो टुकड़ों में बंट गयी ओर यह विभाजन राज्यों में भी हुआ । राजस्थान में तीन टुकड़े हो गये । जिस कॉंग्रेस का विरोध करके राष्ट्रीय मोर्चा सत्ता में आ गया, उसकी शरण में जनता दल का एक गुट जा पहुँचा । विश्वनाथ प्रतापसिंह के मण्डल ब्रह्मास्त्र की धार टूट गयी और मुस्लिम वोट - बैंक पर जनता दल का एकाधिकार समाप्त हो गया ।

किन्तु यह सच है कि व्यक्तियों से कहीं ज्यादा घायल वे धारणाएं ओर कथित मूल्य हो गये जिनके आधार पर आजादी से अब तक हमारी राजनीति, हमारी सामाजिक सोच और सांस्कृतिक ऐतिहासिक समझ टिकी हुयी थी । गैर कॉंग्रेसवाद की धारणा उनमें से एक है ।

इसी सिलसिले में धर्म निरपेक्षता की धारणा भी खतरे के दायरे में आ यगी थी । कुछ वर्ष पूर्व जब अटल बिहारी वाजपेयी ने अपने हिन्दू होने पर गर्व जाहिर किया तो वामपंथी नेता हीरेन मुखर्जी ने एक लम्बे पत्र में इस पर आपत्ति व्यक्त की थी और कहा कि हमें भारतीय होने पर गर्व होना चाहिये । एक और वामपंथी नेता नंबूदरीपाद ने आश्चर्य व्यक्त किया कि लालकृष्ण आडवानी धर्म निरपेक्षता पर इस तरह शंका रहे है जैसे कि धर्म निरपेक्षता पर कोई बहस हो सकती हो किन्तु तब से हालात बदल गये हैं । आज धर्म निरपेक्षता पर बहस ही नहीं छिड़ गयी है, बल्कि वामपंथी दलों को "कण-कण में राम" के नोर लगाने पड़ रहे हैं । विश्वनाथ प्रताप सिंह से लेकर मुलायम सिंह यादव और चन्द्र शेखर तक को हिन्दू होने का दावा करना पड़ रहा है ।

राम जन्म भूमि के मुद्दे पर शायद ही अब कोई राजनैतिक दल यह कहता हो कि अयोध्या में मंदिर नहीं बनाना चाहिये । सभी दल यही कहते है कि राम मंदिर बने किनतु मस्जिद न रहे । कांग्रेस पार्टी तो शिलान्यास के स्थान पर कार सेवा की वकालत करने लगी थी ।

सम्पूर्ण अयोध्या काण्ड में शायद ही कोई प्रगतिशील, लोकतांत्रिक और धर्म निरपेक्ष दल, गुट या मंच क्षतिग्रस्त न हुआ हो इसलिये इस काण्ड का हिसाब-किताब लगाया जाये तो यही लगता है कि सिर्फ भाजपा अभीतक अपनी धारणा और नीति पर अडिग खड़ी है भले ही यह धारणा और नीति कैसी भी हो ? अयोध्या में राम मंदिर कब बनेगा, कैसे बनेगा यह तो समय ही बतायेगा किन्तु इस संग्राम में हमारी व्यवस्था की उन धारणाओं पर पुर्नविचार आरंभ हो गया है जिन्हें अब तक विवाद से परे माना जाता था ।

---

1. राजनाथ सिंह - आरक्षण वोट बैंक में फंसी राजनीति, नव भारत टाइम्स 21.9.91

इस बीच धर्म निरपेक्ष और वामपंथी नेताओं ने अपने सभी सिद्धान्तों को एक साढ़े चार सौ साल पुरानी जर्जर इमारत में सुरक्षित रखा दिया है । जिसको देखकर ऐसा प्रतीत हो रहा है कि कहीं ऐसा तो नहीं कि यह इन सिद्धान्तों, धारणाओं और नीतियों की असली दशा की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति हो कि जर्जर इमारत की भाँति ये सब भी जर्जर हो चुके हों ।

वास्तव में राजनीति मात्र असंभव को संभव करने की ही नहीं बल्कि विवेक को ताक पर रख देने की कला भी है । जहाँ वोट बैंक का विषय होता है विवेक कपूर की तरह उड़ जाता है । एक समय में जब पूरे हिन्दी क्षेत्र में साम्प्रदायिक दंगों का दौर आरंभ हुआ, साम्प्रदायिक दुर्भावना फैलाने वाली शक्तियाँ विद्वेष का विष उगलने लगीं और परस्पर संघर्ष की अग्नि लगभग सम्पूर्ण परिदृश्य को निगलती दिखी तो ऐसा प्रतीत हुआ कि भारतीय राजनीति से नैतिकता लोप होने का तथ्य सजीव हो उठा है ।[1]

राजनेताओं ने भी अपने व्यवहार एवं कार्यप्रणाली से यह स्पष्ट कर दिया है कि समस्याओं को सुलझाने के स्थान पर उनके पास मात्र षड़यंत्र करने, इन्हें उलझाने या टाल देने मात्र का ही समय शेष रह गया है ।

भारतीय जनता पार्टी के दो उपाध्यक्षों ने कहा कि राम भगवान नहीं हमारे राष्ट्र पुरूष है ।[2]

---

1. इण्डिया टुडे - 31 दिसम्बर, 1990 अयोध्या दो मुँहेपन की दास्तान (प्रभु चावला)

2. भारत के राम और भाजपा के राम - राजीव वोरा - जनसत्ता 3.9.91

सच तो यह है कि भगवान न तो राष्ट्रपुरूष होते हैं और न सांस्कृतिक प्रतीक ही । राष्ट्रपुरूष और राष्ट्रीय प्रतीक दोनों लौकिक स्थितियां हैं । ईश्वर दिव्य है तथा एक में लौकिकता का बोध है, दूसरे में दिव्यता का । जो दिव्य है, जिसके नाम स्मरण से ही दिव्यता का बोध होता है उसे दिव्य न बताकर लौकिक बताना किसी भी दृष्टि से भारतीय नहीं है । अन्य संस्कृतियों में भी ऐसा नहीं होता । यूरोप में भी " **सेक्यूलरिज्म** " का उदय उन विषयों को दिव्यता के क्षेत्र से बाहर करने के लिये हुआ था, जो थे तो लौकिक किन्तु चर्च ने उन पर अपना फतवा दे रखा था और सर्वोपरि होने के कारण शक्ति के बल पर एक पूरी जाति के सांस्कृतिक - बौद्धिक विकास को रौंद रखा था । यह अलग बात है कि यूरोप द्वारा अन्य संस्कृतियों को नष्ट करने के क्रम में इसी " **सेक्यूलरिज्म** " ने करीब करीब नास्तिकता का रूप ले लिया था । सम्पूर्ण यूरोपीय आधुनिक औद्योगिक सभ्यता नास्तिकतावादी है । गांधी जी के शब्दों में यदि कहा जाये तो इसमें धर्म और नीति की कोई बात ही नहीं है ।

पृथ्वी 'गोल है या चपटी' यह प्रश्न कुछ शताब्दियों पूर्व तक यूरोप में खोज का विषय हो सकता था क्योंकि वह दृश्य जगत का प्रश्न था । इस प्रश्न पर धर्मसंस्था का फतवा नहीं चल सकता, किन्तु राम दिव्य पुरूष है या लौकिक इस पर न तो राज्य सत्ता का और न ही किसी पार्टी का फतवा चल सकता है । यदि हम राम की दिव्यता को ही मानने से इंकार कर देते हैं तो इस सम्पूर्ण विश्व में कुछ भी दिव्य शेष नहीं रह जाता है । धर्म का सनातन आधार ही समाप्त हो जाता है । यदि राम दिव्य नहीं है तो सनातन धर्म पद ही निरर्थक हो जाता है । भारतीय संस्कृति सनातन धर्म की सेवा में उत्पन्न एक व्यवस्था है ।

हाँ, एक प्रश्न यह भी उठता है कि क्या राष्ट्रपुरूष राष्ट्र से बड़ा होता है ? इसके प्रत्युत्तर में कहा जा सकता है कि राष्ट्र की सेवा करने वाले व्यक्ति ही राष्ट्रपुरूष कहलाते हैं, राष्ट्रपुरूष कभी भी राष्ट्र से बड़ा नहीं है । किसी भी जाति के चित्त, बुद्धि और पुरूषार्थ के रूपों से राष्ट्र विशेष का निर्माण होता है । दिव्य शक्ति रूपों से प्रेरणा लेकर ही राष्ट्र का निर्माण होता है और आसुरी शक्तियों से प्रेरणा पाकर भी राष्ट्रों का निर्माण होता है । भारत उन सौभाग्यशाली राष्ट्रों में से है जिसका निर्माण दिव्य शक्ति की प्रेरणा पूजा के फलस्वरूप हुआ ।

जिन शक्तियों से प्रेरणा लेकर अर्थात् जिन शक्तियों की सेवा हेतु राष्ट्रों का निर्माण होता है, वे स्पष्ट ही राष्ट्र से बड़ा है । सनातन धर्म की सेवा, उसकी रक्षा, उसकी प्रतिष्ठा ऐसा कर्म है जो राष्ट्र सेवा से अतुलनीय रूप से बड़ा और अलग प्रकार का है । सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का होना न होना जिसकी इच्छा पर निर्भर करता है और जिसकी लीला के अंश मात्र से राष्ट्रों का निर्माण या नाश हो जाता है उसी अविनाशी, नित्य, अप्रमेय भगवान श्रीराम को महज पृथ्वी की अनेकों में से एक जाति के नेता बताना वैसा ही अहिन्दू कार्य है जैसे कि कुछ जातियों द्वारा अपने धर्ममत को न मानने वालों को ईश्वर की कृपा से वंचित बताना होगा ।

वर्तमान समय में भारतीय राष्ट्र का अनिवार्य अंग जो एकमात्र शक्ति केन्द्र बन जाने से ' राष्ट्र ' का पर्यायवाची बन गया है, वह है उसका राज्यतंत्र इस राज्यतंत्र के निर्माण, चरित्र, उद्देश्य या राष्ट्र से उसके रिश्ते के विषय में कहीं भी भारतीय संस्कृति से प्रेरणा नहीं ली गई है ।

श्री राम पूर्ण हैं, भारतीय संस्कृति उस पूर्णता की आंशिक अभिव्यक्ति है । अंश के द्वारा हुयी अभिव्यक्ति ही पूर्ण की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति होती है । अंश का प्रतीक पूर्ण नहीं होता है । अतः भारतीय संस्कृति अर्थात् विशुद्ध परिष्कृत भारतीय सभ्यता ही श्री राम का प्रतीक है, न कि श्री राम भारतीय सभ्यता के प्रतीक हैं ।

अतः यदि राम नाम की सच्ची मर्यादा और नैतिक जिम्मेदारी का पालन किया जाये तो किसी पर भी धार्मिक या साम्प्रदायिक राजनीति करने का आरोप नहीं लग सकता है । राम-नाम त्याग, तपस्या और वीरतापूर्ण पुरूषार्थ की प्रेरणा प्रदान करता है । राजनीति तथा सामाजिक जीवन में वीरता, त्याग और तपस्या का सम्पूर्ण लोप ही भारत के वर्तमान पतन का मूल है । ऐसी स्थिति मेंभारतीय राजनीति को राम-नाम की मर्यादाओं से अनुप्राणित करने का कार्य प्रशंसनीय ही माना जायेगा, किन्तु राम के नाम का इस तरह से दुरूपयोग न हो कि उन्माद और द्वेष का वातावरण पले एवं बढ़े ।

यह पुरी तरह सत्य है कि महज मुसलमानों के सन्दर्भ में अपनी शक्ति के अभ्युदय के लिये राम नाम का उपयोग समाज को और अधिक शक्तिहीन बना सकता है । 'राम राज्य की स्थापना हमारा उद्देश्य है' यह प्रचारित करने मात्र से ही कार्य नहीं हो सकता और न ही राम राज्य किसी भी समूह के प्रति द्वेष की नींव पर खड़ा हो सकता है ।

यह भी स्पष्ट है कि रूढ़िवाद, कट्टरपन, प्रतिक्रियावाद किसी एक

सम्प्रदाय विशेष तक ही सीमित नही है । इस तथ्य को हाल ही में हुई एक घटना के माध्यम से और अधिक स्पष्ट रूप से जाना जा सकता है । उदाहरणस्वरूप [1] यदि हिन्दुओं में छिपे हुये कुछ प्रतिक्रियावादी अयोध्या में रामजन्म भूमि के नाम पर मस्जिद को गिराया है, तो मुस्लिम कठमुल्लावाद ने अपने बदशक्ल चेहरे को दिल्ली के जामिया मिलिया इस्लामिया में उजागर किया है । किन्तु दोनों के मध्य एक अन्तर यह है कि अयोध्या में विधर्मियों से चार सौ साल बाद बदला चुकाने का जुनून था जबकि जामिया के मुसलमान छात्र अपने एक जहीद उस्ताद के ही दुश्मन हो रहे हैं । भूतपूर्व वाइसचांसलर प्रोफेसर मुशीरूल हक का गुनाह यह है कि उन्होनें कह दिया कि सलमान रूश्दी का उपन्यास ' दि सेटेनिक वर्सेज ' घटिया है और वे उन लोगों के गुस्से में शरीक हैं जो उस पर रोक लगाना चाहते हैं, किन्तु व्यक्तिगत रूप में वे उस पर रोक लगाने के हक में नहीं है । जामिया के कुछ छात्रों को इसमें इस्लाम और रसूल पाक का अपमान दिखायी पड़ रहा है और वे मुशीरूल हक को बर्खास्त देखना चाहते हैं ।

प्रायः यह कहा जाता है कि देश में साम्प्रदायिकता इसलिये है कि यहां अशिक्षा व्याप्त है किन्तु पिछले कुछ वर्षों में यह दिखायी पड़ा है कि फिरकापरस्ती पर मात्र अनपढ़ गंवारों की इजारेदारी नहीं रही बल्कि कालेजों, विश्वविद्यालयों और अन्य कथित प्रबुद्ध संस्थानों का भी उस पर दावा बनने लगा है । सुशिक्षितों की साम्प्रदायिकता सीधे फासिज्म की तरफ ले जाती है । जामिया का यह आन्दोलन इसलिये दुर्भाग्य पूर्ण ही नहीं बल्कि खतरनाक भी है कि मुसलमानों की युवा पीढ़ी में वह प्रबुद्ध सहिष्णुता नहीं आ रही है जिसके अभाव को लेकर हिन्दू

---

1. नवभारत टाइम्स - सम्पादकीय लेख

साम्प्रदायिकतावादी सभी मुसलमानों को धर्मान्ध ठहराता है और अपनी साम्प्रदायिकता का औचित्य सिद्व करता है ।

किन्तु इस सम्पूर्ण घटनाक्रम में सन्तुष्टि की बात यह है कि जामिया के कुलपति प्रो0 बशीरूद्दीन अहमद उस जुनून से जरा भी नहीं घबराये और प्रो0 हक की बर्खास्तगी के स्थान पर उन्होनें विश्वविद्यालय को बन्द करना ही उचित समझा । इसके साथ ही साथ अनेक प्रबुद्व मुसलमानों ने, जिनमें सलमान रूश्दी के कट्टर विरोधी भी शामिल हैं जिन्होंने प्रो0 हक की इस बात का समर्थन किया है कि "दि सेटेनिक वर्सेज" पर रोक लगाने से कोई उद्देश्य पूरा नहीं होता है ।

जामिया जैसी घटनाओं से सबसे ज्यादा लाभ हिन्दू साम्प्रदायिकता को मिलेगा । अतः उचित यही होगा कि प्रबुद्ध मुसलमान इस बात पर आपस में चर्चा करें कि क्या किसी किताब से नफरत करते हुये भी उसके मुहैया होने की आजादी दी जा सकती या नहीं, वैसे सच तो यह है कि खराब किताबें स्वयं नष्ट हो जाती है ।

मुसलमानों को चाहिए कि वे खुले माहौल में प्रो0 हक जैसे लोगों को अपनी बात बेबाक कहने का अधिकार दिलाये और कट्टरपन, धामिक उन्माद, प्रतिक्रियावाद को समाप्त करने में सक्रियता दिखायें ।

भारत जैसे विशाल देश में विभिन्न जातियों, विभिन्न धर्मों, विभिन्न भाषा भाषी लोग निवास करते हैं किन्तु इन विविधताओं के मध्य एकता ही भारतीय संस्कृति

की विशेषता है । भाषा धर्म इत्यादि राष्ट्र के एकताकारी तत्व है किन्तु कब यही तत्व एकता में बाधक बन जाते हैं इसी तथ्य को मधुलिमये ने अपने लेख में स्पष्ट रूप से रेखांकित किया है ।

[1] क्या धर्म एकताकारी तत्व है ? मधुलिमये ने अपने इस शीर्षक लेख में लिखा है कि हमारे देशवासी अत्याधिक धार्मिक है । धर्म हमारे जीवन की बहुत जगह घेरता है । वास्तव में हम अत्यधिक धार्मिकता का शिकार हैं ।

इसमें कोई शक नहीं है कि जहां तक हमारी विशाल बहुसंख्यक जनता का संबंध है हिन्दू धर्म और संस्कृति एक एकताकारी तत्व है । हिन्दू धर्म, दर्शन और संस्कृति को यदि हम उनके प्रगतिशील, शुद्व और उदार पहलुओं के रूप में देखें तो यह निश्चय ही भारतीय एकता में योगदान करने वाले हैं । किन्तु जब हिन्दू धर्म आक्रामक रूख अपनाता है और दूसरे धर्मों के पूजास्थलों को गिराने या दूसरे धार्मिक समुदायों पर, उनकी इच्छा के विरूद्व समाज निजी कानून लागू करने की बात करता है अथवा हिन्दू समाज में ऊँच नीच के भेद को खत्म करने तथा स्त्रियों की गुलामी को खत्म करने जैसे आन्तरिक सुधारों का विरोध करता है या उनसे ध्यान हटाता है तो वह राष्ट्र के लिये ही नहीं, हिन्दू समाज के लिये भी एकताकारी तत्व नहीं रह जाता है । जो चीज भारत की जनता को विभाजित करती है और राष्ट्रीय एकता को नष्ट करती है, वह बहुसंख्यक समुदाय के लिये भी लाभकारी नहीं हो सकती है ।

इस्लाम की प्रकृति समतावादी है । इसकी अपील सार्वजनीन है तथा भाईचारा इसका आदर्श है किन्तु जब पाकिस्तान में अन्य समुदायों के प्रति धृणा फैलाने

---

1. मधुलिमये - पुस्तक 'धर्म और राजनीति'. पृष्ठ - 73

के लिये और एक क्षेत्रीय, भाषायी समूह (पंजाबी) का दूसरे समूह (बंगाली भाषी मुस्लिम) पर आधिपत्य लादने के लिये इस्लाम का इस्तेमाल किया गया तो यह एकताकारी तत्व नहीं रहा और देश के विघटन का कारण बना ।

वर्तमान पाकिस्तान में भी धर्म की अपील का इस्तेमाल विभिन्न भाषायी समूहों के मध्य (जिन्हें पाकिस्तान में प्रायः राष्ट्रीयताएं कहा जाता है) समानता, भाईचारा और मित्रतापूर्ण सह अस्तित्व को बढ़ावा देने के लिये नहीं किया जाता बल्कि एक फिरके या क्षेत्र का वर्चस्व मजबूत करने के लिये किया जाता है अतः इससे टकराव निश्चित है ।

अतः यह स्पष्ट है कि दोष हिन्दूधर्म या इस्लाम धर्म का नहीं है बल्कि उनका है जो संकीर्ण स्वार्थ के लिये इनका दुरूपयोग करते हैं ।

यदि हम भाषा के तत्व को ही ले तो हमारे यहां भाषा के आधार पर राज्यों के पुर्नगठन की उचित मांग थी । यह मांग लोकतंत्र और विकेन्द्रीकरण के सिद्वांतों के अनुरूप थी किन्तु जब इसे मर्यादा से बाहर खींचा गया तो यह भाषायी संघर्षों और विघटन का कारण बन गयी । अलगाव और संलग्नता को पवित्र सिद्वांत मानकर और अन्य सभी बातों को छोड़कर भाषायी राज्यों के सीमा विवादों को उछालना विनाश का रास्ता है ।

शहरीकरण की तेज रफ्तार और एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में तेजी से आबादी के आवागमन के कारण समरूप भाषायी राज्य पूर्णतः अप्रासंगिक हो गये हैं ।

यहां भी हमें औचित्य को ध्यान में रखना होगा । हमारी नागरिकता एक है । क्या प्रत्येक भारतीय धरती पुत्र या पुत्री नहीं है ? संविधान सभी नागरिकों को देश के किसी भी भाग में जाने और वहां बसने का अधिकार देता है । इस अधिकार पर केवल तर्कसंगत पाबन्दी ही लगायी जा सकती है । कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, हैदराबाद जैसे शहर और जमशेदपुर, रांची , भोपाल, भिलाई जैसे आधुनिक औद्योगिक शहर सभी मिली-जुली आबादी के शहर हैं । देश के सभी भागों के लोग यहां बसते हैं तथा अपनी, आजीविका कमाते हैं । बंगलौर भाषायी सिद्वांत पर बने कर्नाटक राज्य की राजधानी है किन्तु इसकी अधिकांश आबादी तमिलभाषी है । यदि हम भाषा के सिद्वांत को बंगलौर पर उपरोक्त शहरों पर लागू करते हैं तो यह उचित आकांक्षाओं की पूर्ति का माध्यम बनने के स्थान पर घोर भेदभाव का कारण बनेगा ।

संविधान ने यह मानते हुये कि भारत लम्बे समय से सांस्कृतिक तथा भौगोलिक रूप से एकीकृत इकाई और लगभग सौ साल से अधिक समय से राजनैतिक इकाई रहा है, इसकी एकता को बनाये रखने का ढांचा तैयार किया है । वह भाषा को एकताकारी तत्व के रूप में प्रयोग करना चाहता था किन्तु उनमें ऐसे सुरक्षा उपाय भी किये गये हैं जिससे वह उत्पीड़न का साधन न बने । संविधान के एक अनुच्छेद में राष्ट्रपति को अधिकार दिया गया है कि यदि उसे ज्ञात हो कि किसी राज्य के जनसमुदाय का पर्याप्त अनुपात यह चाहता हो कि उसके द्वारा बोली जाने वाली भाषा को उस राज्य में या उसके किसी भाग में राज्य द्वारा मान्यता दी जाये तो वह ऐसा निर्देश दे सकता है । संविधान इस बात की भी अनुमति देता है कि नागरिक संघ या राज्य में प्रयोग होने वाली किसी भी भाषा में प्रतिवेदन दे सकता है । इसमें यह व्यवस्था भी की गयी है कि भाषायी अल्पसंख्यकों के बच्चों को उनकी मातृभाषा में

शिक्षा देने का प्रबंध करें । भाषायी अल्पसंख्यकों के हितों की देखभाल के लिये विशेष अधिकारी की नियुक्ति की व्यवस्था भी संविधान में की गयी ।

राज्य सेवाओं में प्रवेश के लिये आवासीय योग्यताएं निर्धारित कर सकते हैं किन्तु ये योग्यताएं उचित सीमा के अन्दर होनी चाहिए । उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों को यह निर्णय करने का अधिकार दिया गया है कि ये योग्यताएं उचित है अथवा नहीं । न्यायाधीश जस्टिस एच.आर. खन्ना ने अपने एक फैसले में क्षेत्रवाद और भाषावाद के अतिरूप में खतरों के प्रति हमें सावधान किया है । उन्होंने कहा है कि यह बात सर्वविदित है कि राज्यविधानसभाऐं प्रायः स्थानीय और क्षेत्रीय भावनाओं से परिचालित होती हैं । वे ऐसे कानून बना सकती है जो दूसरे राज्यों से आये नागरिकों के खिलाफ हों, इस आधार पर कि उस राज्य के निवासी आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हैं । उदाहरण के लिये ऐसा कानून बनाया जा सकता है जिसमें कहा गया हो कि चूंकि राज्य के पुराने निवासी आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हैं अतः जो लोग तीन पीढ़ियों से अधिक समय से राज्य में नहीं रह रहे हैं और फलते - फूलते कारोबार तथा अच्छी सम्पत्ति के मालिक हैं, उन्हें कारोबार तथा सम्पत्ति से वंचित किया जाये जिससे वह कारोबार और सम्पत्ति पुराने निवासियों को दी जा सके । इस तरह का कानून बनने से दूसरे राज्यों की विधान सभाऐं भी ऐसे कानून बनायेंगे जो पहले कानून बनाने वाले राज्य के नागरिकों के खिलाफ हों । इस प्रकार विभिन्न राज्यों के नागरिकों के मध्य भेदभाव करने वाले कानूनों की श्रृंखला बनती जायेगी और यह राष्ट्रीय दृष्टि से विघटनकारी प्रक्रिया होगी ।

असम भाषायी अस्मिता - (जिसे कभी - कभी सांस्कृतिक अस्मिता भी कहा जाता है) और एकता के विपरीत संघर्ष एवं विभाजन का स्रोत बन गया है । एकांतिक असमी अस्मिता सुरक्षा घाटी के बंगलाभाषी लोगों और बंगाली हिन्दू शरणार्थीयों के लिये ही नहीं अरूणांचल, मेघालय, नागालैण्ड और मिजोरम की पर्वतीय जनजातियों तथा बोडो जैसी मैदानी जनजातियों के लिये भी चिढ़ाने वाली थी । अतः बोडो जनजाति को छोड़कर शेष सभी ने अपना अलग राज्य बना लिया । केन्द्र द्वारा सीमावर्ती क्षेत्रों और आस-पास की पहाड़ियों की लम्बे समय तक उपेक्षा के कारण यहां अलगाववाद की शक्तियाँ पनपी है । अब असमी अस्मिता के अतिवादी समर्थकों ने हथियार उठा लिये हैं । असम आन्दोलन, जिसे कुछ प्रगतिशील और धर्मनिरपेक्ष दलों का समर्थन मिला, निश्चय ही कुछ वाजिब शिकायतों को वाणी देता था किन्तु साथ ही संवैधानिक व्यवस्था के आधार और एक नागरिकता के सिद्धांत पर उसने प्रश्न-चिन्ह भी लगाया ।

पंजाब के कुछ हिन्दू और सिख प्रायः पंजाबियत की बातें करते हैं । उन्होंने स्पष्टतः पंजाबी भाषा के आधार पर पंजाबी सूबे की मांग रखी । किन्तु वास्तव में कुछ लोग सिख राज्य बनाना चाहते थे जिसमें गैर सिख दूसरे स्तर के नागरिक बनकर रहें । यह राष्ट्रीय एकता, धर्मनिरपेक्ष व्यवस्था और एक नागरिकता के सिद्धांत के अनुरूप नहीं था ।

सभी बहुभाषी (अथवा बहुराष्ट्रीय) राज्यों में भाषा, क्षेत्र, नस्ल, संस्कृति आदि की संकीर्ण निष्ठाएं हैं और वे गंभीर रूप ले सकती है । आत्मनिर्णय के छद्म सिद्धांत का प्रचार करने वाला सोवियत संघ अब खण्ड-खण्ड हो चुका है ।

क्षेत्रीय भाषायी एवं धार्मिक परिप्रेक्ष्य के इसी क्रम में में अयोध्या में राम मंदिर मुद्दे को लेकर उभरने वाले परिदृश्य का एक बार पुनः नये सन्दर्भ में उल्लेख करना चाहूँगी ।

6 दिसम्बर, 1992 को घटना के पहले और बाद भी अयोध्या सत्ता परिवर्तन, राजनीति हलचल और विवाद का केन्द्र बनी रही है । किन्तु 1995 में स्थिति में दूसरा ही बदलाव आ गया है ।

अयोध्या में बाबरी मस्जिद के एक भाग में ही राम वर्षों स्थापित रहे । वहीं उनकी पूजा-अर्चना भी होती रही । नवें दशक के आस पास यहां दोनों धर्मों के ठेकेदारों ने एक दूसरा माहौल बनाया । माहौल इतना गरम हुआ कि उसकी आँच ने सत्ता के शीर्ष तक पहुँचकर उसे भी विचलित कर दिया । लखनऊ से लेकर सुदूर दक्षिण तक अयोध्या की इस आँच ने असंख्य घरों को प्रभावित किया और असंख्य जिन्दगियों में कड़वाहट घोल दी थी । इसकी व्यापक प्रतिक्रिया भारत ही नहीं, पाकिस्तान, बांग्लादेश के अतिरिक्त अन्य सुदूरवर्ती देशों तक दिखायी दी थी ।

जबकि सच यह है कि अपने बहुधर्मी स्वरूप के कारण राम रहीम को साथ-साथ स्थापित करने वाली उदारवादी सूफी परम्पराऐं हमारी थाती रही है । स्वयं अयोध्या कभी बौद्ध, जैन तीर्थकरों तथा मर्यादा पुरूषोत्तम राम की भूमि रही है । आज भी वहां एक और मुस्लिम पैंगम्बर नूह आदि के मकबरे हैं तो दूसरी ओर हिन्दू आस्था के पवित्र मंदिर भी है । अजान के साथ घंटे घड़ियाल भी यहां के जीवन को नयी गति

और नये समय का संकेत देते रहे है । संक्षेप में कहें तो कला और संस्कृति के असंख्य रूप यहाँ सरयू के घाटों के आस पास बिखरे और संवरे है ।

6 दिसम्बर, 1995 को अयोध्या काण्ड की बरसी के अवसर पर भी असामाजिक तत्वों ने अव्यवस्था फैलाने की भरसक कोशिश की किन्तु जनता ने उन्हें अपना समर्थन नहीं दिया ।

सच तो यह है कि यह लड़ाई हिन्दुओं और मुसलमानों की न होकर सियासी और साम्प्रदायिक तत्वों की रही है जो न हिन्दू है और न मुसलमान । अयोध्या में अमन पसन्द शक्तियों ने इस बार कट्टरतावादी तत्वों को जैसी शिकस्त दी है, वह इस बात का घोतक है कि जनता अब जग चुकी है और उसकी संवेदना का लाभ उठाकर स्वार्थ साधन करने वाले को वह माफ नहीं करेगी । संविधान और धर्म निरपेक्षता की ताकतों की जीत का एक नया अध्याय इस बार 6 दिसम्बर, 1995 को रचा गया है, इसमें दो मत नहीं हो सकते । धर्म, भाषा, जाति, सम्प्रदाय को हथियार बनाकर की जाने वाली दूषित राजनीति निश्चित रूप से समाज और देश में अनेक विसंगतियों और अव्यवस्थाओं की कर्णधार बनी है किन्तु इनके प्रयोग के तरीके सन्दर्भ और नीयत पर भी विचार किया जाना चाहिये अन्यथा वह एकांगी मूल्यांकन होगा । भारतीय जनता पार्टी के वरिष्ठ नेता मुरली मनोहर जोशी के चुनाव को दी गयी चुनौती पर सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय भी उर्पयुक्त सत्य को रेखांकित करता है ।

सर्वोच्च न्यायालय ने एक ऐतिहासिक फैसला देकर महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री मुरली मनोहर जोशी को तो राजनीतिक जीवनदान दिया ही है राजनीति में धर्म

के प्रयोग और साम्प्रदायिक प्रचार को लेकर काफी समय से फैली धुन्ध को भी एक सीमा तक कम किया है । दादर, बम्बई से 1990 में मनोहर जोशी के चुनाव को उनके कांग्रेसी प्रतिद्वन्द्वी ने इस आधार पर चुनौती दी थी कि उन्होंने और शिवसेना प्रमुख बाल ठाकरे ने हिन्दुत्व के नाम पर वोट मांग कर भ्रष्ट चुनावी आचरण किया था । बम्बई उच्च न्यायालय ने इसे सही मानते हुये जोशी का चुनाव अवैध घोषित कर दिया था । जोशी ने सर्वोच्च न्यायालय में इसके खिलाफ अपील की थी, जिसे न्यायमूर्ति जे. एस. वर्मा, एन. पी. सिंह और के. वेंकटस्वामी ने स्वीकार करके बम्बई उच्च न्यायालय के फैसले को अत्यन्त कटु आलोचना के साथ रद्द कर दिया । जोशी पर आरोप था कि उन्होंने अपनी एक चुनाव सभा में लोगों को आश्वासन दिया था कि देश में पहली हिन्दू सरकार राज्य (महाराष्ट्र) में बनेगी । आरोप यह भी था कि जोशी के पक्ष में दिये गये चुनावी भाषणों में शिवसेना प्रमुख बाल ठाकरे ने हिन्दुत्व को आधार बनाकर जो उत्तेजक भाषण दिये थे वे लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम के अन्तर्गत भ्रष्ट आचरण में आते है । खण्डपीठ ने हिन्दू सरकार बनने वाले जोशी के बयान की आलोचना तो की है किन्तु उसे अधिनियम की धारा 123 के अन्तर्गत अपराध नहीं माना है । उन्होंने इसे अधिक से अधिक एक आशा माना है, उम्मीदवार के धर्म के नाम पर वोट देने या न देने की अपील नहीं जो कानूनन अपराध है । ठाकरे के भाषणों के मामले में भी खण्ड पीठ ने जोशी को यह कहते हुये बरी किया है कि यह सिद्ध नहीं हो पाया कि ठाकरे के उन भड़काऊ भाषणों में उम्मीदवार मनोहर जोशी की सहमति थी । उस सहमति के बिना ठाकरे के भाषणों के लिये जोशी को दोषी नहीं माना जा सकता है ।

जिन आधारों पर सर्वोच्च न्यायालय ने कई लोगों को आरोप मुक्त किया है, उन्हें कई लोग तकनीकी भी मान सकते है । किन्तु उनके फैसलों को ध्यान से पढ़ने

के पश्चात यह स्पष्ट होता है कि केवल तकनीकी आधार पर तीनों न्यायमूर्तियों ने साम्प्रदायिक प्रचार के रास्ते किसी के लिये भी खुले नहीं छोड़े हैं । डॉ. रमेश प्रभु और शिवसेना प्रमुख बाल ठाकरे की अपीलों को ठुकराते हुये खण्ड पीठ ने ठाकरे की भाषा की कटु आलोचना की है । इन दोनों मामलों में बम्बई उच्च न्यायालय के निर्णय को सही मानते हुये खण्ड पीठ ने जो कहा है उसका परोक्ष अर्थ यह निकलता है कि हिन्दुत्व का नाम लेते हुये भी ठाकरे दूसरे धर्मावलम्बियों, विशेषकर मुसलमानों के लिये जिन अपमानजनक शब्दों का प्रयोग करते है वह हिन्दुत्व और हिन्दू होने के व्यापक और गहन अर्थों के विषय में उनका अज्ञान दिखाता है । खण्ड पीठ ने ठाकरे के भाषणों को दो समुदायों के बीच शत्रुता पैदा करने और धर्म के आधार पर लोगों से वोट देने या न देने के भ्रष्ट आचरण का दोषी माना है ।

खण्ड पीठ का इन निर्णयों के माध्यम से सबसे महत्वपूर्ण योगदान यह है कि चुनावी भाषणों या राजनीतिक विमर्श में धर्म, हिन्दू या हिन्दुत्व के उल्लेख मात्र से असंतुष्ट होने वाले विद्वानों और न्यायधीशों दोनों को उसने विचार का एक नया और संतुलित पक्ष दिखाया है । हिन्दुत्व को लम्बी व्याख्या के बाद इन्हें अपने मूल चरित्र और अर्थ में व्यापक, असंकीर्ण और असाम्प्रदायिक बताते हुये खण्ड पीठ ने कहा है कि इनके प्रयोग के तरीके संदर्भ और नीयत पर विचार किये बिना उसे गलत नहीं माना जा सकता ।[1]

---

1. जनसत्ता 12 दिसम्बर, सम्पादकीय - जोशी दोषी नहीं ।

इस सम्पूर्ण अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि धर्म और धार्मिक अस्मिता भाषायी और क्षेत्रीय गर्व या अस्मिता तभी एकताकारी शक्तियाँ हो सकती हैं जब वे स्पष्ट निर्धारित सीमाओं के अन्दर कार्य करें । जब ये आक्रामक और कट्टर रूप धारण करती है तो देश की एकता के लिये खतरा बन जाती है । धार्मिक गर्व और भाषायी अस्मिता को सीमा से बाहर नहीं जाने देना चाहिये । हमें भारतीय पहचान और भारतीय अस्मिता को ऊपर रखना होगा । इस एकता और अस्मिता का प्रतीक और उसकी गारण्टी हमारा संविधान है ।

वास्तव में एक स्वस्थ, सम्पन्न, शक्तिशाली राष्ट्र का निर्माण तब तक संभव नहीं है जब तक हम आज के युग के मूलभूत आदर्शों जिनकी अभिव्यक्ति धर्म निरपेक्षता, लोकतंत्र और समाज वाद के रूप में हुयी है, को पूरी ईमानदारी और निष्ठा से केवल शब्दों में ही नहीं बल्कि आचरण में भी नहीं चरितार्थ करते । धर्म निरपेक्षता की दृष्टि से मूलतः यदि राज्य से यह अपेक्षा करती है कि राज्य धर्म को व्यक्ति का नितान्त निजी विषय समझकर अपने को सर्वथा अलग रखेगा और प्रत्येक नागरिक को समान दृष्टि से देखेगा तो यह दर्शन नागरिक से भी अपेक्षा करता है कि वह धर्म को अपना नितान्त निजी विषय मानकर राजनीति में उसका किसी प्रकार का कोई दुरूपयोग नहीं करेगा । धार्मिक संकीर्णता और उन्माद को किसी भी रूप में प्रश्रय देने और प्रेरित करने वाली राजनीतिक संस्था या दल देश को अन्ततः तोड़ने की ही दुर्भाग्य पूर्ण भूमिका का निर्वाह करेगा । यहां पर संक्षेप में ही इस बात की तरफ भी संकेत कर देना आवश्यक है कि सामाजिक और आर्थिक विषमताओं ने भी राष्ट्रीय जीवन में बहुत अधिक जहर घोलने का कार्य किया है । धर्म और सम्प्रदाय को आधार बनाकर दक्षिण

पंथी दलों की भूमिका पर भी हमें जागरूक दृष्टि रखनी पड़ेगी और राष्ट्र को उसके दुष्परिणामों से बचाना होगा। कौन नहीं जानता कि आज पंजाब में उग्रवाद एवं आंतकवाद से सीधे-सीधे वैचारिक एवं आन्दोलनात्मक संघर्ष यदि कोई राजनीतिक दल सबसे अधिक कर रहा है तो वह साम्यवादी दल ही है और इस संघर्ष में उसके दल के अनेक नेता एवं कार्यकर्ता मारे भी जा चुके है ।

भारतीय राजनीति में क्षेत्रीय दलों का विकास भी बहुत तेजी से हुआ वास्तव में हमारे देश का सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विकास किन्हीं सुनिश्चित प्राथमिकताओं के सुविचारित और सुनिश्चित निर्धारण के बाद पूरी ईमानदारी, कठोरता और संकल्प के साथ नहीं किया जा सका जिसका परिणाम हुआ कि समाज में ना—ना प्रकार के असंतुलन तीव्रता से बढ़े । हमारे देश में समाज के बहुसंख्यक लोगों की प्राथमिक बुनियादी आवश्यकताऐं क्या है ? इस बात की पूरी ईमानदारी के साथ निर्धारण किये बिना हम राष्ट्र के विकास का कोई समुचित प्रारूप भी नहीं बना सकते । ऐसा नहीं कि देश में कोई विकास नहीं हुआ, कई पंच वर्षीय योजनाऐं बनी और लागू की गयी । नेहरू ने तो आधुनिक भारत की न केवल नीवं डाली बल्कि वैज्ञानिक और औद्योगिक विकास के लिये एक जबरदस्त संस्थागत ढांचा भी तैयार किया । इन सबके बावजूद देश का विकास न तो वांछित तीव्रता से हुआ और न उसका दिशा बोध ही पूरी तरह सही या संतुलित कहा जा सकता है । देश के बहुत सारे क्षेत्र और उन क्षेत्रों में रहने वाले लोग अपने आपको उपेक्षित महसूस करने लगे । आजादी के बाद सामाजिक

---

1. अनाद्रमुक - तमिलनाडु, असम - गणपरिषद, असम - तेलगूदेशम आन्ध्रप्रदेश, अकाली दल पंजाब ।

और आर्थिक नव निर्माण के प्रारम्भ से ही राष्ट्रीय जीवन में व्यापक स्तर पर भ्रष्टाचार का भी पदार्पण हो गया जो निरन्तर पूरे वेग के साथ राष्ट्रीय जीवन को दुष्प्रभावित करता रहा । गरीब और अमीर के मध्य की खाई बहुत तेजी से बढ़ती ही गयी । पूरे देश में अनेक समस्याऐं जैसे भ्रष्टाचार, मंहगाई, बेरोजगारी, साम्प्रदायिक, भाषायी एवं क्षेत्रीय आन्दोलन और उन आन्दोलनों में होने वाली हिंसा दिन प्रतिदिन बढ़ती ही गयी । राष्ट्र अपनी पूरी अस्मिता और गरिमा के साथ हमारी चेतना में प्रतिष्ठित होने की जगह पर धीरे-धीरे महत्वहीन होता गया । हमारे लिये कोई विशेष वर्ग, कोई विशेष क्षेत्र, कोई विशेष धर्म, कोई विशेष भाषा आवश्यक रूप से बहुत अधिक महत्वपूर्ण होती गयी और राष्ट्रीय एकता एवं गरिमागौण होती चली गयी ।

अतः आवश्यकता इस बात की है कि सम्पूर्ण देश का विकास इतने सुनियोजित एवं सुनिश्चित दृष्टि एवं दृढ़ संकल्प से किया जाये कि लोकतंत्र, समाजवाद और धर्म निरपेक्षता लोगों को मात्र नारे न लगें बल्कि उनके जीवन में गहराई से उतर सकें । संभवतः तब न केवल राष्ट्र शक्तिशाली होगा और विभिन्न प्रकार के सामाजिक एवं आर्थिक असंतुलन दूर होंगे बल्कि क्षेत्रवाद, भाषावाद, प्रान्तवाद एवं सम्प्रदायवाद को भी अपना सिर उठाने का अवसर प्राप्त नहीं होगा ।

अध्याय - सप्तम

निष्कर्ष

निष्कर्ष

अपने शोध प्रबन्ध 'भारतीय संविधान में धर्म की भूमिका' धर्म निरपेक्षता के सन्दर्भ में मैंने विस्तृत रूप से धर्म और राज्य के सम्बन्ध एवं स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है । स्वतन्त्रता आन्दोलन के आरम्भिक वर्षों में धर्म के आधार पर भारतीयों के मध्य कोई विभाजक रेखा नहीं थी । हमारे क्रान्तिकारी नेताओं (भगत सिंह, बटुकेश्वर दत्त, चन्द्रशेखर आजाद, रामप्रसाद बिस्मिल या अन्य) के मध्य धर्म के आधार पर कोई तनाव या द्वन्द्व नहीं था किन्तु स्वतन्त्रता आन्दोलन के विकास के क्रम में ही धर्म का वह स्वस्थ स्वरूप विलुप्त होता गया और बाद में धर्म भारतीय राजनीति का एक प्रभावी तत्व होता गया । यहाँ तक कि उसकी चरम परिणति ही यह हुयी कि 1947 में आजादी के लक्ष्य की प्राप्ति धर्म के आधार पर राष्ट्र विभाजन से हुयी ।

स्वतन्त्र भारत में संविधान निर्माण के समय यद्यपि हमारे संविधान निर्माताओं द्वारा धर्म निरपेक्षता और समाजवाद को प्रस्तावना के शब्दों में स्थान नहीं दिया गया किन्तु उसकी भावना पूरी तरह से विद्यमान थी और बाद में तो 1975 में 42 वें संवैधानिक संशोधन द्वारा समाजवाद एवं धर्म निरपेक्ष शब्दों को विधिवत प्रस्तावना में जोड़ दिया गया ।

एक तरफ तो हमने धर्म के सम्बन्ध में संविधान में धर्म निरपेक्ष स्वरूप को अपनाया और उसी के आधार पर संवैधानिक उपबन्धों की भी व्यवस्था की गयी (अन्तः करण की स्वतन्त्रता, धार्मिक मामलों में व्यय किये गये धन पर कर की अदायगी से छूट तथा राजकीय शिक्षण संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा का निषेध) किन्तु यहां

केवल एक सैद्धान्तिक स्थिति रह गयी और व्यवहार में जिस तरह से विभिन्न राजनैतिक दलों द्वारा राजनीति की गयी और भारतीय राजनीतिक प्रक्रिया को धर्म ने प्रभावित किया उससे हमारा दृष्टिकोण और अधिक प्रतिगामी और विकृत होता गया । इसकों पूरी स्पष्ट एवं तीव्रता से समझने के लिये संसद द्वारा पारित मुस्लिम महिला विधेयक की भी गहराई से जाँच पड़ताल करना आवश्यक और समीचीन है । Concept & Practice पत्रिका में श्री एस. सी. माथुर ने मुस्लिम महिला विधेयक के बारे में लिखे अपने निबन्ध One step forward, Two steps back में इस कानून के विषय में अपने दृष्टिकोण को व्यक्त करते हुये लिखा है ।

The Bill does not avert the insecurity felt by the Indian Muslims to some extent providing for the enforcement of the Shariat provisions governing the marital relations. But it lets down the progressive Muslims attempting to fight obscurantism from inside. Besides it catapults the evolution of a common Civil Code in to limbo. The bill now excludes Muslim women from the perview of sections 125 & 127 of the Code of crimial procedure and relieves the ex-husbands of their responsibility for maintenance of a divorced wife after the period of Iddat. But does it do justice to the progressive spirit of Islam, the first religion to grant property rights to women.

यह कितनी विसंगति पूर्ण एवं भयावत स्थिति है कि इस देश की सरकार ने भारत वर्ष के अनेक प्रबुद्ध एवं प्रगतिशील बुद्धिजीवियों की अत्यन्त मुखर आलोचना के बाद भी एक ऐसा क़ानून बनाया जो न केवल धर्म निरपेक्षता के मूल्य और सिद्धान्त की ही हत्या करता हे बल्कि जो एक लम्बे संघर्ष के बाद मुस्लिम महिलाओं द्वारा उच्चतम न्यायालय से प्राप्त अधिकारों को भी छीन लेता है । यहाँ इस बात की तरफ एक बार और संकेत कर देना अनिवार्य प्रतीत होता है कि हमने बहुत गम्भीर चिन्तन के पश्चात देश की राजनीति ओर संविधान दोनों के लिये धर्म निरपेक्षता को एक मात्र आदर्श के रूप में स्वीकार किया था । हमारी बुनियादी मान्यता थी कि भारत जैसे देश के लिये एक धर्म तन्त्रीय राष्ट्र की परिकल्पना अनिवार्य रूप से घातक और विघटनकारी होगी । स्वतन्त्र हिन्दुस्तान में राजनीतिक प्रक्रिया के स्वस्थ संचालन में धर्म निरपेक्षता का सिद्धान्त हमारे लिये मार्गदर्शक बनेगा, यही हमारी मूलभूत धारणा थी और इसी के आस-पास हमने देश की राजनीति को चलाने का संकल्प भी संविधान के माध्यम से व्यक्त किया था ।

अपने आप में यह भी एक ध्यान देने योग्य तथ्य है कि आज विश्व के अनेक मुस्लिम राष्ट्रों ने जिसमें इराक, सीरिया और इजिप्ट जैसे राष्ट्र शामिल हे, स्त्रियों की स्थिति में मानवीय दृष्टि से सुधार लाने के लिये और उन्हें न्याय प्रदान करने के लिये शरीयत में अनेक उचित एवं अनिवार्य संशोधन कर लिये है । इस सन्दर्भ में 6 मई, 1986 को भारतीय संसद में इस विधेयक के विषय में बोलते हुये हिन्दुस्तान के प्रमुख भूतपूर्व मुस्लिम सांसद श्री आरिफ मुहम्मद खान ने जो

---

1. 'Concept & Practice' Shri S.C. Mathur Article 'One steps forward, two steps back' July - Aug. 1986 First Edition.

उस समय स्वयं सत्ताधारी कांग्रेस दल के ही सदस्य थे और जिन्होंने अपने सैद्धान्तिक मतभेद के कारण ही मन्त्री पद से त्याग पत्र दे दिया था । इस विधेयक को अमानवीय और गैर इस्लामिक घोषित किया था । उन्होंने यह भी कहा था कि जब यह विधेयक कानून बन जायेगा तो यह देश को मुगल शासन से भी पहले की स्थिति में पहुँचा देगा ।

यह एक नितान्त दुर्भाग्य पूर्ण स्थिति थी कि मुस्लिम समाज के अत्यन्त संकीर्ण एवं कट्टरपंथी लोगों को संतुष्ट करने के लिये प्रधानमंत्री ने इस देश में स्वस्थ और आधुनिक राजनीति को बहुत अधिक प्रतिगामी स्थिति में पहुँचा दिया । इस देश के अनेक प्रमुख मुस्लिम बुद्धिजीवियों ने न केवल इस विधेयक का अमानवीय होने के कारण विरोध किया था बल्कि अनेक उदाहरणों द्वारा यह प्रमाणित करने की भी चेष्टा की थी कि उच्चतम न्यायालय का निर्णय न केवल मानवीय न्याय और गरिमा के आधार पर सही और सन्तुलित है बल्कि उन्होंने इस निर्णय को इस्लाम की मूल भावना के भी अनुकूल बताया था । इस कानून ने न केवल मुस्लिम महिलाओं को अत्यन्त दीन-हीन और दयनीय स्थिति में प्रस्तुत किया बल्कि इस देश की राजनीति की दिशा को भी गलत ढंग से प्रभावित किया और आगे चलकर इसकी प्रतिक्रिया में अन्य समुदायों के लोगों में अपने अपने तरीके से कट्टरपंथी मान्यताओं को पूरा करवाने के लिये जिद और संघर्ष का दौर आरम्भ हुआ । श्री आरिफ मुहम्मद खान ने समय के इस बिन्दु पर एक ऐतिहासिक साहस और दूर दृष्टि का परिचय दिया था । उच्चतम न्यायालय के एक अत्यन्त प्रतिष्ठित अवकाश प्राप्त न्यायाधीश श्री बी. के. कृष्णा अय्यर ने भी इस कानून को 'Obnoxious, Outrageous, Unconstitutional' घोषित किया था ।

यह विधेयक निश्चय ही महिलाओं के व्यक्तित्व के सम्मान एवं पुरूषों के साथ उनकी समानता के सिद्धान्त के लिये अत्यन्त घातक है और इसके दुष्परिणाम समाज में दिखायी पड़ने लगे हैं । यह अपने देश का दुर्भाग्य ही है कि सत्ताधारी राजनीतिक दल ने तात्कालिक सम्भावित राजनीतिक लाभ के लिये धार्मिक संकीर्णता एवं कट्टरतावाद के आगे समर्पण कर दिया । शासक दल ने प्रत्येक प्रकार के कट्टरपंथी दबावों के द्वारा इस विधेयक को कानून का रूप प्रदान करने में सफलता तो प्राप्त कर ली किन्तु यह देश के लिये निश्चित रूप से कोई प्रगतिशील कदम नहीं कहा जा सकता है बल्कि यह तो राजनीति और धर्म के स्वस्थ समीकरण की स्थापना के लिये स्वीकृत धर्म निरपेक्षता के सिद्धान्त को नकारने वाला कदम ही है ।

आज देश की परिस्थितियाँ एक अत्यन्त नाजुक एवं संकट पूर्ण मोड़ पर पहुँच चुकी है । धर्म नैतिक मूल्यों एवं आग्रहों का वाहक न होकर धर्मान्धता एवं साम्प्रदायिक कट्टरता का रूप ग्रहण कर चुका है और यह धर्मान्धता किसी एक सम्प्रदाय तक सीमित नहीं रह गयी है बल्कि एक संक्रामक रोग की भाँति आज यह पूरे समाज को ग्रस्त किये हुये । इस शोध प्रबन्ध के लिखने की प्रक्रिया में बौद्धिक निष्पक्षता एवं अधिकतम सम्भव तटस्थता के साथ में यह कह सकती हूँ कि धर्म को निजी आस्था और विश्वास के क्षेत्र से निकालकर राजनीतिक दलों ने इसे एक राजनीतिक मुद्दा मात्र बनाकर छोड़ दिया है । राम जन्मभूमि और बाबरी मस्जिद के आस-पास बुनी जाने वाली और खेली जाने वाली कुत्सित राजनीति करने वालों का धर्म से भी कोई गम्भीर सरोकार नहीं है । एक अत्यन्त सार्थक और उचित प्रश्न इन तथाकथित कट्टरपंथी धर्म के ठेकेदार नेताओं से पूछा जा सकता है कि क्या इस देश के सम्मुख सबसे बड़ी समस्या मंदिर और मस्जिद की ही है और क्या इस प्रश्न को भी जान

बूझकर ही उलझाये नहीं रखा जा रहा है ? यदि तर्क के लिये यह मान भी लिया जाये, कि इस समस्या का कोई समाधान हो जाये तब भी क्या हमारी मूलभूत आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं का समाधान अपने आप निकलकर सामने आ जायेगा ?

यदि हम अपने देश के मानचित्र पर नजर डालें तो सम्पूर्ण देश ही तो आज आग की लपटों में झुलसता हुआ दिखायी पड़ रहा है । आंतकवाद, अलगाववाद और साम्प्रदायिक हिंसा ने लोगों को हिलाकर रख दिया है । चुनाव, वोट बैंको तथा अपने-अपने समुदायों, जाति बिरादरियों में सस्ती लोकप्रियता पर नजर लगाये रहने वाले एक वर्ग विशेष की कट्टरता, साम्प्रदायिकता और हिंसा की वकालत कर रहे हैं जिसके परिणामस्वरूप वातावरण में और अधिक तनाव बढ़ रहा है । देश के विभिन्न समुदाय 'हम' और 'वे' भी बांटने वाली बोली रहे है, ऐसे में कोई आश्चर्य नहीं कि छोटी सी बातें भायानक साम्प्रदायिक हिंसा का कारण बन सकती है । जिन छिटपुट घटनाओं को प्रौढ़ और परिपक्व लोगों को हँसकर दर-गुजर कर देना चाहिये अथवा जिन मामलों को देश के व्यापक हित एवं शान्ति के लिये बातचीत एवं मेलजोल से सुलझा लिया जाना चाहिये उन्हें लेकर आज हर तरह के साम्प्रदायिक शक्ति प्रदशंन और आन्दोलन की तेयारियाँ शुरू हो जाती है । अनेक स्वयं भू नेता प्रतिशोध एवं सबक सिखाने के दाव करने लगते है । कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि जेसे हम हिंसा और उत्पात की खौफनाक गुफा की तरफ आगे बढ़ रहे हैं जिसमें से बाहर निकलने का शायद कोई रास्ता ही न बचे ।

अपने समुदाय को बाकी देश और समाज से अलग समझने और इस अलगाव पर निरन्तर जोर देते रहना और अपनी अस्मिता की रक्षा के नाम पर नृशंस

कार्य कर बैठने की हेकड़ी का एक भायनक रूप पिछले कुछ वर्षों से पंजाब एवं उत्तर प्रदेश के तराई के इलाकों में देखा जा सकता है । यहाँ की राजनीति साम्प्रदायिकता के दलदल में इतनी गहरी धंस गयी है कि हत्यारे एवं कट्टर अपराधी भी समुदाय विशेष में महिमा मण्डित किये जा रहे है । यदि हम इतने संवेदनशून्य न हो गये हों कि पंजाब में और पंजाब के बाहर इन खूँखार आंतकवादियों द्वारा की गयी हत्याओं को मात्र आंकाड़ा समझकर उनकी उपेक्षा कर दें तो यह हमारे राष्ट्रीय जीवन का एक भयंकर हादसा बनकर हमारे सम्मुख उभरता है । यह भी कौन और केसे आश्वास्त कर सकता है कि सार्वजनिक जीवन में पतन का यह भयावह रूप पंजाब या किसी प्रदेश तक ही सीमित रहेगा । देर-सबेर यह दूसरे इलाकों और समुदायों को भी अपनी चपेट में निश्चित रूप से ले लेगा । किसी हद तक तो यह सिलसिला देश के दूसरे भागों में भी तेजी से उभर ही रहा है । क्रिया की प्रक्रिया और प्रत्युत्तर में उसकी प्रतिक्रिया का यह भयानक दुष्चक्र पूरी तेजी से आगे बढ़ रहा हे ।

वस्तुतः संविधान द्वारा भारत को एक धर्म निरपेक्ष राज्य घोषित किया गया है फिर भी भारतीय राजनीति में धर्म की एक विशेष भूमिका है । सच तो यह है कि हम धर्म निरपेक्ष राज्य की स्थापना तो कर पाये है, किन्तु धर्म निरपेक्ष समाज की नहीं । स्वाधीनता के बाद शुरू हुयी चुनावों की राजनीति ने धर्म और सम्प्रदाय के नकारात्मक महत्व को उभारा है ।

साम्प्रदायिकता के अन्तर्गत वे सभी भावनाएं एवं क्रियाकलाप आ जाते है कि जिनमें किसी धर्म अथवा भाषा के आधार पर किसी समूह विशेष के हितों पर बल दिया जाये और उन हितों को राष्ट्रीय हितों के ऊपर प्राथमिकता दी जाये या

उसको प्रोत्साहन दिया जाये । जब एक समुदाय जान बूझकर धार्मिक सांस्कृतिक भेद के आधार पर राजनीतिक मांगे रखने का निर्णय करता है तब सामुदायिक चेतना सम्प्रदायवाद के रूप में एक राजनीतिक सिद्धान्त बन जाती हे और तभी राजनीतिक स्वतन्त्रता को सांस्कृतिक स्वायत्तता सुरक्षित रखने की अनिवार्य शर्त घोषित कर दिया जाता है । वास्तव में भारत जैसे बहुसंस्कृतीय समाज में सामाजिक तनाव या संघर्ष विभिन्न समूहों के मध्य चल रहे सत्ता द्वन्द्व के लक्षण है । इस पारस्परिक द्वन्द्व को सैद्धान्तिक स्तर पर धर्म की शिला पर खड़ा करने को ही एक राजनीतिक विचारधारा के रूप में साम्प्रदायवाद का मूल सार कहा जा सकता है ।

हमारे सम्मुख यह प्रश्न भी विशेष महत्व का है कि स्वतन्त्रता से पूर्व अंग्रजों ने "फूट डालों और राज करो" की नीति अपनायी थी किन्तु देश के विभाजन के बाद राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के पश्चात भी धार्मिक संकीणता एवं साम्प्रदायिक कट्टरता का रंग क्यों दिखलायी पड़ता है ?

इसके प्रत्युत्तर में हम यह कह सकते हैं कि मुसलमानों में पृथक्करण की भावना आज भी विद्यमान है और वे अपने को राष्ट्रीय धारा में समाविष्ट नहीं कर पाये हैं । अनेक मुस्लिम नेताओं ने स्वाधीनता के बाद इस बात का प्रचार किया कि उन्हें मुख्य राष्ट्रीय धारा में शामिल होने के लिये ऐसे राजनीतिक दलों को सहयोग देना चाहिये जिनका विश्वास धर्म निरपेक्षता, समाजवाद एवं आथिंक न्याय में है किन्तु इन विचारों का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा और अनेक मुस्लिम नेताओं और संगठनों ने इस बात का प्रचार किया कि मुस्लिम सम्प्रदाय के हितों की रक्षा के लिये पृथक रूप से भाग लेना चाहिये । इसके साथ ही साथ ब्रिटिश शासन काल से ही मुसलमान आथिंक दृष्टि से पिछड़े हुये रहे है और स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी उनकी

आर्थिक स्थिति सुदृढ़ नहीं हो पायी । शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े होने के कारण सरकारी नौकरियों, व्यापार एवं उद्योग धन्धों में भी उनकी स्थिति में सुधार नहीं हुआ यहां तक कि आज भी उनका आधुनिकीकरण नहीं हो पाया है जिससे उनमें असन्तोष बढ़ा है और उनका मनोबल भी कम हुआ है जिससे कभी-कभी यह असन्तोष उग्र रूप ले लेता है और हिंसा के रूप में प्रकट होता है ।

इन कारणों के अतिरिक्त भारत के हिन्दू सम्प्रदाय में भी ऐसे व्यक्ति तथा गुट हैं जो धर्मान्धता की संकीर्ण भावनाओं से ओत-प्रोत हैं । हिन्दू महासभा तथा राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ जैसे संगठनों ने हिन्दुओं की धार्मिक भावनाओं को निरन्तर उत्तेजित किया है । ये लोग यहां तक तर्क देते है कि भारत हिन्दुओं का देश है और हिन्दू धर्म के अनुयायियों को ही इस देश में निवास करने का अधिकार है । इस प्रकार की संकीर्ण मनोवृत्ति से भी आपसी सद्भाव एवं विश्वास कमजोर होता जाता है । इसके साथ ही साथ सरकार ओर प्रशासन की उदासीनता के कारण भी धार्मिक कट्टरतावाद एवं सम्प्रदायवाद की भावनाओं को निरन्तर बल मिला है ।

अतः यदि हमें बढ़ती हुयी साम्प्रदायिक हिंसा, धार्मिक उन्माद और वेमनस्य को समाप्त करके शांति, व्यवस्था, अनुशासन और साम्प्रदायिक सद्भाव को कायम करना है तो सरकार को समस्या के मूल कारणों को समझकर उसका समाधान ढूँढना होगा न कि विदेशी धन और विदेशी हाथ की चर्चा करके सन्तुष्ट हो जाना होगा । सरकार को सदेव ही इस तथ्य को ध्यान में रखना चाहिये कि उसके द्वारा कोई भी ऐसा कार्य न किया जाये, जिससे संकीर्ण मनोवृत्ति एवं स्वार्थों को प्रोत्साहन मिले । किसी भी सार्वजनकि क्षेत्र म बहुमत के आधार पर कोई प्रवृत्ति उत्पन्न न की जाय । सम्पूर्ण प्रशासन एसे ढग से हो कि अल्पसंख्यकों को अपने अल्पसंख्यक होने

का अहसास ही न रहे । सरकार को सदैव ही इस प्रकार के कानूनों का निर्माण करना चाहिये जो कि प्रत्येक व्यक्ति पर समान रूप से लागू होते हों । कानून लागू होने में किसी भी प्रकार का जाति, लिंग, धर्म, भाषा एवं सम्प्रदाय सम्बन्धी भेदभाव नहीं होना चाहिये । भारत में विभिन्न समयों पर अनेक सम्प्रदाय सरकार में अपने विशेष प्रतिनिधित्व की मांग करते हैं । सरकार को इन सभी के इस प्रस्ताव को केवल साम्प्रदायिकता के आधार पर अस्वीकार करना होगा और उन्हें एक राष्ट्र के लिये प्रोत्साहित करना होगा ।

कुल मिलाकर यह स्पष्ट है कि भारतीय राजनीति में धर्म एवं साम्प्रदायिकता का प्रभाव बढ़ने से धर्म निरपेक्ष राजनीति के विकास का मार्ग अवरूद्ध हुआ है । साम्प्रदायिकता, धार्मिक, कट्टरता एवं उन्माद की राजनीति के अपने तर्क होते है, उसका मुख्य ध्येय संकुचित हितों की रक्षा करना होता है । यह दायित्व राष्ट्रीय नेताओं का है कि वे एक समुदाय के सीमित तथा राष्ट्र के वृहत्तर हितों के मध्य सन्तुलन स्थापित करें और समुदाय को राष्ट्र में बदले । इन प्रयासों से ही यह आशा की जा सकती है कि राजनीतिक चेतना की वृद्धि और लोकतान्त्रिक मूल्यों के परवान चढ़ने के साथ धर्म निरपेक्षता का स्वरूप भी निखरता जायेगा ।

आजादी प्राप्त होने के पश्चात भारतीय संविधान के निर्माण के समय भारतीय राजनीति एवं धर्म के एक स्वस्थ एवं संतुलित समीकरण की रचना की प्रक्रिया में ही धर्म निरपेक्षता की अवधारणा को भारतीय राजनीति एवं संविधान में प्रस्तुत एवं स्वीकृत किया गया था । धर्म निरपेक्षता की यह अवधारणा अपने आप में एक अत्यन्त स्वस्थ, संगत, धनात्मक, आधुनिक और वैज्ञानिक अवधारणा है । यहाँ इस बात को भी

निष्कर्ष रूप में एक बार और बल देकर स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि धर्म निरपेक्षता की अवधारणा इस देश के सन्दर्भ में अनिवार्यतः कोई धर्म विरोध की अवधारणा नहीं है बल्कि धर्म को व्यक्ति की निजी आस्था और विश्वास के क्षेत्र तक सीमित कर राज्यों को उससे अलग और ऊपर रखते हुये सभी नागरिकों को समान दृष्टि से देखने की मूलभूत धारणा है ।

मेरी स्पष्ट मान्यता है कि धर्म मानव जीवन की एक मूलभूत प्रवृत्ति है और उसको बहुत प्रयास के बाद भी मनुष्य के जीवन से पूरी तरह खारिज नहीं किया जा सकता है । गलती बहुत गम्भीर रूप तभी लेती है जब हम धर्म को राजनीति के एक मुद्दे के रूप में उठाने लगते हैं । जैसा कि इस पूरे दौर में हुआ और अब भी हो रहा है । अभिप्राय यह कि धर्म निरपेक्षता को उसके समस्त स्वस्थ आयामों के साथ व्यवहार में चरितार्थ करने में गम्भीर त्रुटियाँ हुयीं, जिसके दुष्परिणाम भंयकर रूप में सामने दिखायी पड़ रहे हैं ।

महात्मा गांधी, जिनकों इस देश ने राष्ट्रपिता की संज्ञा दी थी, का व्यक्तित्व गहन रूप से धार्मिक होते हुये भी धार्मिक संकीर्णता एवं कट्टरतावाद से सर्वथा मुक्त था । हमारे राष्ट्रीय जीवन और राजनीति के लिये आवश्यकता इस बात की थी कि हम गांधी और उनके जीवन दर्शन से प्रेरणा प्राप्त कर वास्तव में सभी धर्मों के प्रति एक व्यापक, उदार और सहिष्णुता का दृष्टिकोण विकसित करते किन्तु दुर्भाग्य से व्यवहार में ऐसा नहीं हो सका । यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि गांधी जी ने स्वयं यह घोषणा की थी कि यदि वे तानाशाह होते तो धर्म और राज्य दोनों एक दूसरे से सर्वथा अलग-अलग होते । गांधी धर्म को एक नितान्त व्यक्तिगत विषय मानते थे और राज्य को उससे सर्वथा अलग रहने का ही परामर्श देते थे ।

पंडित जवाहर लाल नेहरू ने अपनी पुस्तक "भारत एक खोज" में भारत को अतीत से लेकर वर्तमान तक खोजने और समझने का प्रयास किया था । नेहरू ने धर्म निरपेक्षता को एक आधुनिक वैज्ञानिक समाजवादी जीवन दृष्टि से जोड़कर विकसित करने का प्रयास किया था किन्तु भारतीय राजनीति में उनके बाद के लोगों ने अधिकतर धर्म निरपेक्षता के स्वस्थ विकास को अपने व्यवहार एवं आचरण से अवरूद्ध ही किया ।

भारत में अधिकांश राजनीतिक दल और उनके नेता चुनावों में धर्म और सम्प्रदाय की दलीलों के आधार पर वोट मांगते हैं । वोट बटोरने के लिये मठाधीशों इमामों, पादरियों और साधुओं के साथ समझौते किये जाते है । मार्च 1977 और जनवरी 1980, 1985, 1990 और उसके पश्चात वर्तमान साल में हुये लोकसभा चुनावों के समय में दिल्ली की जामा मस्जिद के शाही इमाम की भूमिका से सरलता से यह समझा जा सकता है कि धार्मिक नेता राजनीतिक दलों से मुस्लिम सम्प्रदाय के वोटों का किस प्रकार सौदा करते हैं । राजनीतिक नेता की भांति शाही इमाम ने चुनाव सभाओं में भाषण दिये और मुस्लिम सम्प्रदाय के मतदाताओं को किसी विशेष राजनीतिक दल के पक्ष में मतदान करने के लिये प्रेरित किया । किसी संवाददाता ने लिखा है कि सवाल उठता है कि समाजवाद और गणतन्त्र की बात करने वाले यदि इमाम के नाम से वोट प्राप्त करना चाहेंगे तो हो सकता है कि बलराज मधोक जैसे लोग शंकराचार्य के नाम पर वोट मांगने लगे । फिर क्या इस देश को इमाम और शंकराचार्य के बीच चुनाव करना पड़ेगा ।[1]

इसके अतिरिक्त अनेकों बार परोक्ष रूप से धर्म के आधार पृथक राज्यों

---

1. दिनमान 16-22 दिसम्बर, 1979 पृष्ठ 19

की मांग भी की जाती रही है । अकाली दल द्वारा पंजाबी सूबे की मांग ऊपरी तौर पर भाषायी आधार की मांग नजर आती है किन्तु यर्थाथ में यह धर्म के आधार पर ही पृथक राज्य की मांग थी । धर्म और राजनीति की अन्त:क्रिया को समझने के लिये पंजाब राज्य की राजनीति विशिष्ट महत्व रखती है । पंजाब की राजनीति हमेशा ही अकाली दलों की आन्तरिक राजनीति तथा सशक्त और समृद्ध शिरोमणी गुरुद्वारा प्रबन्ध समिति के निर्वाचनों के आस-पास घूमती रही है । शिरोमणी गुरुद्वारा प्रबन्धक समिति के चुनाव प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से अकाली दल की राजनीति को प्रभावित करते है और अकाली दल पंजाब की राजनीति को ।

अत: यह स्पष्ट है कि धर्म और राजनीति का मेल-मिलाप सामाजिक और राजनीतिक जीवन में भंयकर जहर घोल सकता है । यह तथ्य आज की भारतीय राजनीति में कदम-कदम पर बड़े दुख के साथ रेखांकित किया जा सकता है । यहाँ इस बात की तरफ भी संकेत किया जा सकता है कि इस देश का राजनीतिक जीवन स्वतन्त्रता के पूर्व के वर्षों में कहीं बेहतर मूल्यों से प्रेरित और जीवन्त था । क्रान्तिकारियों में उनके धर्म, जाति और सम्प्रदाय को लेकर कभी कोई अलगाव की दीवार या रेखाऐं नहीं खींची गयी थी किन्तु आज की वर्तमान परिस्थितियों में धर्म अपने व्यापक उदार मानवीय मूल्यों के धरातल से उतरकर घोर साम्प्रदायिकता एवं धर्मान्धता का रूप ग्रहण कर चुका है । धर्म का ,, उपयोग ही एक राजनीतिक मुद्दे के रूप में किया जा रहा है जो सैद्धान्तिक और व्यवहारिक दोनों ही रूपों में राष्ट्रीय राजनीति को दूषित करने वाला है । विभिन्न राजनैतिक दलों ने भी धर्म का उपयोग अपने-अपने संकीर्ण और सीमित राजनीतिक स्वार्थों की प्राप्ति के लिये किया है और अब भी कर रहे है जिसके परिणामस्वरूप आज देश की सम्पूर्ण जनसंख्या अलग-अलग धर्मों, सम्प्रदायों एवं जातियों में विभक्त होकर एक दूसरे के साथ

संघर्ष करती हुयी दिखायी पड़ रही है । एक शोध छात्रा के रूप में मेरी निश्चित मान्यता है कि इस दुखद एवं प्रतिगामी प्रवृत्ति पर भी सुनियोजित ढंग से अंकुश लगाना पड़ेगा ।

स्वाधीनता के बाद धर्म एवं सम्प्रदाय के आधार पर भारत में राजनीतिक दलों का गठन हुआ है । मुस्लिम लीग, शिरोमणी अकाली दल हिन्दू महासभा, शिवसेना इत्यादि राजनीतिक दलों के निर्माण में धार्मिक और साम्प्रदायिक तत्वों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है । यदि साम्प्रदायिकता एक रोग है और वह भी संक्रामक [1] तो इन दलों के शासन और राजनीति पर प्रभाव को सहज ही आंका जा सकता है । धार्मिक संगठन तो भारतीय राजनीति में सशक्त दबाव-समूहों की भूमिका भी अदा करने लगे हैं । ये धार्मिक गुट शासन की नीतियों को प्रभावित करते हैं और कभी-कभी अपने पक्ष में अनुकूल निर्णय भी करवाते हैं । अतः आवश्यकता इस बात की है कि साम्प्रदायिक एवं धार्मिक आधार पर बने हुये संगठनों और संस्थाओं को राजनीति में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेने से रोका जाये क्योंकि साम्प्रदायिक शक्तियों के साथ किसी प्रकार का कोई समझौता राष्ट्र को किसी भी रूप में सफल एवं दृढ़ नहीं बना पायेगा । आज इस देश की भौगोलिक सीमा के अन्दर ही स्थितियाँ इतनी विकराल हो गयी है कि राष्ट्रीय ध्वज को पैरों तले रौंदा जाता है, गणतन्त्र दिवस जैसे राष्ट्र पर्व का बहिष्कार किया जाता है और संविधान की प्रतियाँ जलायी जाती है । वस्तुतः यह प्रवृत्ति अपने आप में न केवल असाधारण है बल्कि भयानक भी है । इन पर कठोरता से अंकुश लगाना पड़ेगा ।

---

1. रामधारी सिंह दिनकर ने इसे संक्रामक रोग कहा है । "संस्कृति के चार अध्याय" पृष्ठ -638

मेरी यह भी मान्यता है कि धर्म निरपेक्षता की सम्पूर्ण अवधारणा कहीं न कहीं गहराई में मानवीय समानता के दृष्टिकोण एवं दर्शन से जुड़ी हुयी है । सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक न्याय एवं समानता की स्थापना किये बिना राष्ट्रीय एकता और अखण्डता के सारे सिद्धान्त एवं आदर्श व्यवहार में अधूरे और खोखले ही रहेंगे । एक तरफ सिद्धान्त में समाजवाद, धर्म निरपेक्षता और समता की बात करना और दूसरी तरफ विभिन्न प्रकार की संकीण और कट्टर धारणाओं से समझौता करना, ये दोनों बातें साथ-साथ नहीं चल सकती ।

अभी हाल में "मई 1996" में सम्पन्न हुये लोकसभा चुनावों के पश्चात गठित भाजपा सरकार को गिराने और भाजपा के विरोध में जिस तरह से राजनैतिक दलों का ध्रुवीकरण हुआ उससे यह पूर्णतया उजागर हुआ कि राजनैतिक दलों का गठन और उनके द्वारा की जाने वाली व्यवहारिक राजनीति में राष्ट्रीयता का बिन्दु लुप्त होता जा रहा है तथा कोई भी कीमत चुकाकर सत्ता प्राप्ति एवं सत्ता सुख का लक्ष्य सर्वोपरि स्थान लेता जा रहा है क्योंकि साम्प्रदायिकता विरोध की लाख-लाख कसमें खाने वाले जिन गैर भाजपायी दलों ने दिल्ली में भाजपा की सरकार न बनने देने के लिये आसंभव को भी संभव बना दिया था वही पार्टियाँ उत्तर प्रदेश में भाजपा विरोधी मोर्चा बनाने में असफल रही । यद्यपि बसपा और कॉंग्रेस दोनों संयुक्त मोर्चे में शामिल नहीं है किन्तु यह नहीं भूलना चाहिये कि कॉंग्रेस के समर्थन पर ही यह मोर्चा सरकार टिकी हुयी है और कॉंग्रेस ने यह समर्थन प्रकट रूप से भाजपा विरोध के आधार पर दिया है । बसपा भी अपने को भाजपा विरोधी पार्टी मानती है और संयुक्त मोर्चा तो खैर भाजपा विरोधी का सबसे बड़ा प्रचारक है फिर भी ये समस्त भाजपा विरोधी उत्तर प्रदेश में भाजपा के विरूद्ध एकजुट नहीं हो सके । इससे यह पता चलता है कि इस देश में साम्प्रदायिकता विरोधी संघर्ष कितना कमजोर है बल्कि यह कहना ज्यादा उचित प्रतीत होता है कि ऐसे किसी संघर्ष का दिखावा ज्यादा होता

है, 'संघर्ष' कम । यही कारण है कि भाजपा लगातार शक्तिशाली होती गयी और गैर भाजपायी दल कमजोर होते गये क्योंकि भाजपा की साम्प्रदायिक राजनीति में भी लोगों ने एक ईमानदारी देखी जबकि इन दलों की धर्म निरपेक्ष राजनीति में कदम-कदम बेईमानी अपने आप दिखायी पड़ने लगी । यह महज संयोग नहीं है कि आज की तारीख में मुलायम सिंह यादव को अपना सबसे बड़ा राजनैतिक दुश्मन कांशीराम और मायावती लगते है और कांशीराम एवं मायावती को मुलायम सिंह यादव भाजपा से भी अधिक खतरनाक लगते है । ऐसी व्यक्तिवादी राजनीति करने वाले जिस राजनैतिक धारा का प्रतिनिधित्व करने लगे उस धारा का क्या भविष्य हो सकता है यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है । राजनीति में मतभेद होना अपराध नहीं है । सच तो यह है कि राजनीति में तो मतभेद होते ही रहते है और कई बार तो एक ही राजनैतिक दल के दो नेताओं में विभिन्न मुद्दों पर मतभेद देखे जाते है किन्तु मतभेद और शत्रुता में अन्तर होता है । मतभेद लोहिया और अम्बेडकर के बीच भी थे किन्तु उसमें एक गरिमा थी और दोनों के लक्ष्य समानान्तर थे । किन्तु मुलायम सिंह और कांशीराम के साहचर्य से उनके मध्य जो कुछ पनपा है वह मतभेद नहीं शुत्रता है । मतभेद मिट सकते है किन्तु शत्रुता मिटा सकती है । नितान्त वैयक्तिक विद्वेष को सार्वजनिक राजनैतिक महत्व का मतभेद बना देना, हमेशा आत्मघाती होता है ।

यह पूर्णतया स्पष्ट है कि भारतीय राजनीतिक प्रक्रिया को स्वस्थ ढंग से संचालित एवं निर्देशित करने के लिये धर्म निरपेक्षता अनेक विकल्पों में से एक नहीं है बल्कि सही मायने में एकमात्र विकल्प है । समझ में नहीं आता कि एक धर्म निरपेक्ष राष्ट्र में कदम-कदम पर सरकारी सेवाओं के लिये आवेदन पत्र भरते समय भी अपने धर्म एवं जाति की घोषणा करना अब भी क्यों अनिवार्य है ? जबकि एक धर्म निरपेक्ष राज्य धर्म के आधार पर अपने नागरिकों में कोई भेदभाव नहीं करता है ।

इस सन्दर्भ में एक अन्य अत्यन्त महत्वपूर्ण तथ्य को भी रेखांकित करना आवश्यक है कि उत्तम मनुष्य तथा एक स्वस्थ समाज की संरचना में शिक्षा एक महत्वपूर्ण एवं प्रभावी भूमिका का निर्वाह करती है अतः हमें देश की शिक्षा प्रणाली में भी धर्म निरपेक्षता, समता और लोकतन्त्र के जीवन मूल्यों को सुनियोजित ढंग से विकसित करना होगा और शायद तभी संविधान में रेखांकित समतामूलक समाज की स्थापना भी सम्भव हो सकेगी । मेरी यह मान्यता है कि इस दिशा में भी और अधिक सुनिश्चित प्रयास किये जाने की आवश्यकता है । भाजपा के सम्बन्ध में भी भारत सरकार को अपनी नीति ठीक करनी होगी, यह भी भारत में साम्प्रदायिकता का एक बड़ा कारण है ।

यदि हम भारत के इतिहास पर अतीत से लेकर वर्तमान तक गहराई से दृष्टि डालें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि यह देश जब तक अपने उत्कर्ष की पराकाष्ठा पर था तो इसमें वैचारिक खुलापन, उदारता और सहिष्णुता पर्याप्त मात्रा में थी और जब भी यह कट्टर संकीर्णतावाद का शिकार हुआ तो वह काल उसके पराभव का ही युग रहा ।

अन्ततः सार रूप में यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यदि हम भारतीय राजनीति एवं राष्ट्र को स्वस्थ दिशा में ले जाना चाहते है तो धर्म निरपेक्षता के अतिरिक्त दूसरे किसी दृष्टिकोण एवं दर्शन से वैसा कर पाना सम्भव ही नहीं । आवश्यकता इस बात की है कि हम धर्म निरपेक्षता के आदर्श को गांधी की उदारता और नेहरू की वैज्ञानिकता प्रदान करें । इसके साथ ही साथ सभी राजनैतिक दल एवं संस्थाओं (चाहे वे सत्ताधारी हों या विरोधी) को अत्यन्त ईमानदारी के साथ प्रयास

करके सही मायने में धर्म निरपेक्षता की अवधारणा को आत्मसात करना पड़ेगा एवं व्यवहार में चरितार्थ करना पड़ेगा । केवल तभी हमारा राष्ट्र, उसकी एकता उसकी अखण्डता एवं उसकी दृढ़ता और समृद्धि का विकास तथा रक्षा की जा सकेगी ।

B I B L I O G R A P H Y

S.No.	Author	Name of the Books
1.	Dunning	History of Political Theories Ancient & Mediaval
2.	D.R. Bhandari	History of European Political Philosophers.
3.	D.E. Smith	'Nehru & Democracy' India as a secular state.
4.	E.C. Bhatta	Religious Minorities & Secular State.
5.	D.D. Basu	Commentary on Indian Constitution Vol. I & II.
6.	Chitley	Commentary on Indian Constitution Vol. I & II.
7.	Lanka Sundaram	A secular state in India.
8.	M.N. Das	The Political Plihosophy of Jawaharlal.

S.No.	Author	Name of the Books
9.	Ram Gopal	Indian Muslims.
10.	Sabine	History of Political theory
11.	V. Prasad	Mahatma Gandhi & Sarvoday.
12.	Rati Bhan Nagar	Political History of Ancient India.
13.	Gurumukha Nihal	Land Marks in Indian Constitutional & National Development.
14.	Dr. Radha Kumud Mukherji.	Problems of Minorities.
15.	Dr. Umakant Saxena	Secular state its Institutional pattern.
16.	B.C. Pal	Spirit of Indians.
17.	D.C. Tendulkar	The Mahatma
18.	Jawaharlal Nehru	The Discovery of India.

S.NO.	Author	Name of the Book
19.	R.C.Mazumdar	History of the Freedom Movement in India.
20.	Dr. Pattabhi	History of Indian National Congress.
21.	R.C. Agrawal	Mediaval History.
22.	Ishawari Prasad	History of Ancient India.
23.	B.L. Lunia	History of Ancient India.
24.	Aashirvadilal	History of Mediaval India.
25.	Eastman, M.	Marx, Lenin and the science of revolution.
26.	R.C. Mazumdar	History of Freedom movement in India.
27.	Coupland	The Indian Problem.
28.	Mehta & Patwardhan	The Communal Triangle in India.

S.No.	Author	Name of the Book
29.	Dr. Rajendra Prasad.	At the feet of the Mahatma Gandhi.
30.	A.B. Keith	A constitutional history of India.
31.	Rajni Kothari	Politics in India.
32.	Symonds	The Making of Pakistan
33.	Polak	Mahatma Gandhi
33.	V.P. Verma	Modern Indian Political thought.
34.	Sir William Hunter.	The Indian Musalman
35.	Gray	Socialist Tradition
36.	Beer, Max	The life & teaching of Karl Marx.
37.	R. Palma Dutt.	Indian today

S.No.	Author	Name of the Book
38.	Fisher	Mahatma Gandhi.
39.	A.R. Desai	Social Background of Indian Nationalism.
40.	Garrat	An Indian commentary.
41.	Nevinson	The New spirit in India.
42.	M.V. Pylee	Constitution in India.
43.	Norman D. Palmer.	The Indian Political system.
44.	Iqbal Narain	Political change in India.
45.	M.G. Gupta	Aspects of Indian Constitution.
46.	Marris Jones	The Government & Politics in India.
47.	G. Foucast	Encyclopaedia of Religion.

S.No.	Author	Name of the Book
48.	Krishna Rao	Western Political Thought
49.	W.C.Banerjee	Introduction to Indian politics.
50.	Madhu Limye	Religion & Politics.

समाचार पत्र एवं पत्रिकाएं

1. इंडिया टुडे
2. माया
3. रविवार
4. दिनमान
5. धर्मयुग
6. योजना
7. Concept & Practice

1. जनसत्ता
2. नवभारत टाइम्स
3. आज
4. दैनिक जागरण
5. नईदुनिया
6. दैनिक भास्कर
7. Indian Express
8. Times of India